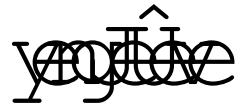

बहु सुमन, बहु रंग, निर्मित एक सुंदर हार

हिन्दी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

सम्पादक

राजेन्द्र कुमार

सह सम्पादक

प्रकाश त्रिपाठी

मृत्युंजय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

बहुवचन

अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी त्रैमासिक

अंक : 24, जनवरी-मार्च 2010

प्रकाशक : महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय

सम्पादकीय कार्यालय :
क्षेत्रीय कार्यालय, महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
24/28, सरोजिनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद-211001
फोनः 0532- 2424442, 2466529, मो. : 09415763049, 09918865005

बिक्री और प्रसार कार्यालय :
प्रकाशन विभाग,
महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
पोस्ट बॉक्स सं0- 16, पंचटीला, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)
फोनः 07152-230901, फैक्सः 091-7152-230903
ई-मेलः bahuvachan@gmail.com
तारः हिन्दीविश्व

© सम्बन्धित लेखकों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से म.गा.अ.हि.वि., वर्धा
या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पंजीयन सं. : DELHIN/2000/1228

यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये

विदेश में :

हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

Published by Mahatma Gandhi International Hindi University

P.B. NO. 16, PANCHTEELA, WARDHA-442001 (MAHARASHTRA) INDIA

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा** के नाम से इस पते पर भेजें —

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
पोस्ट बॉक्स सं.- 16, पंचटीला, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)

आवरण : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

सम्पादकीय

'जिन्हें तमीज़ ही नहीं, उनसे तक़ाज़े भी क्या?' / 5

स्मृति-अक्षर

ग़रीबों की बस्ती (कहानी) / 10
मार्कण्डेय

ग्राम–कथा की संजीवनी : 'हंसा जाई अकेला' / 15
सूरज पालीवाल

मार्कंडेय के नाम कुछ लेखकों के पत्र/ 22

शरदः शतम्

लोहिया : आधुनिकता का देशी संस्करण? / 26
गोपाल प्रधान

धर्म की अर्थ–मीमांसा / 32
विनोद शाही

यहाँ से देखो

कबीर का आत्मसातीकरण / 44
मैनेजर पाण्डेय

मध्यकालीन भक्ति–सम्प्रदायों के टकरावों का भौतिक आधार / 53
टाइलर वाकर विलियम्स

सृजन-भूमि

तीन कविताएँ / 78
अनामिका

ज़िन्दगी कपास (लम्बी कविता) / 83
हरिओम

सच भी एक सपना हो जाता है (उपन्यासांश) / 91
कैलाश बनवासी

अनवरत

उत्तर-औपनिवेशिक शहर और अस्मितावादी विमर्श / 108
मिहिर पांड्या

निर्मल वर्मा और भारतीय राष्ट्र-राज्य का अनैतिहासिक परिप्रेक्ष्य / 117
अवधेश

स्त्री-आत्मकथा : सिद्धान्त-विचार / 124
गरिमा श्रीवास्तव

सहचर्या

साहित्य के सिनेमाई रूपांतरण से जुड़े कुछ प्रश्न / 146
मानवेन्द्र प्रताप सिंह

जिन्हें तमीज़ ही नहीं, उनसे तक़ाज़े भी क्या?

जिस तरह राजनीति में, उसी तरह साहित्य में भी, आज अक्सर कुछ ऐसे सवालों को उछाला जाता है, जो हमारा ध्यान असली सवालों से भटकाने की साज़िश के काम आ जाते हैं। मसलन, जब भी किसी को किसी पुरस्कार, सम्मान या उपाधि से नवाज़ा जाता है, तो बहुत तरह के सवाल उठते हैं, उसकी राजनीति को लेकर। लेकिन बुनियादी सवाल—जो व्यापक रूप से राजनीति और संस्कृति के रिश्ते को लेकर उठाया जाना चाहिए, हर बार पीछे छूट जाता है।

आज़ादी से पहले, राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में, हमारी राजनीति ने एक सांस्कृतिक चरित्र अर्जित किया था। यही कारण है कि उन दिनों के राजनेताओं से संस्कृति-कर्मियों के अच्छे रिश्ते होते थे। वे रिश्ते सहजतया बनते थे, किसी लोभवश 'बनाये' नहीं जाते थे। रुचियों, संस्कारों और सरोकारों में साझेदारी उनके मूल में होती थी। सोचकर देखिये—वो कैसे दिन होंगे, जब सुब्बुलक्ष्मी और पलुस्कर जैसे संगीतज्ञ कांग्रेस के मंचों पर गा रहे होते होंगे; मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवि अपनी कविताओं का पाठ कर रहे होते होंगे, महादेवी वर्मा का किशोर मन ललक रहा होता होगा कि 'बापू' की उपस्थिति में उनको कविता पढ़ने का मौक़ा मिले...। वह चित्र, जिसमें प्रेमचंद एक बैठक में जवाहर लाल के साथ दिखते हैं, आज भी कितना रोमांचित करता है। खुलापन ऐसा कि गाँधी को कोई संकोच नहीं होता रवींद्रनाथ ठाकुर को 'महान प्रहरी' (great sentinel) कहने या 'गुरुदेव' कहकर पुकारने में, और निराला को कोई झिझक नहीं होती, गाँधी से बेलाग बहस के लिए आमादा होने में।

राष्ट्रीय आंदोलन में तपकर निकले राजनेताओं के जीवन में, 1947 के बाद भी यह सिलसिला जारी रहा। राजेंद्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू और राममनोहर लोहिया जैसे राजनेताओं की साहित्य, संगीत, और कला में गहरी रुचि रही, जो देशभर के साहित्यकारों और कलाकारों के आत्मसम्मान के अनुकूल थी। महादेवी ने राजेंद्र प्रसाद और जवाहरलाल पर जो संस्मरण लिखे हैं, वे सिर्फ़ औपचारिक परिचय के आधार पर नहीं लिखे जा सकते थे। दिनकर, बच्चन, फ़िराक़ और अज्ञेय से जवाहरलाल के जो संबंध रहे, आत्मीयता से रचा-पगा उनका अपना इतिहास है। लोहिया अपने प्रखर नेहरू-विरोध के लिए खासे चर्चित रहे। लेकिन एक विशेषता, जो नेहरू और लोहिया दोनों में समान नज़र आती है- वह यह कि बुद्धिजीवियों और साहित्य-संस्कृति प्रेमियों के बीच दोनों समान आकर्षण के केंद्र रहे। दोनों की गहरी पैठ

संस्कृति-चिंतन के अनेक क्षेत्रों में थी। दोनों ने पर्याप्त मात्रा में इतना कुछ लिखा कि उनकी रचनात्मक संभावनाओं की साख बनी। अपनी-अपनी राजनीतिक व्यस्तताओं में अगर उन्हें थोड़ा और समय मिल सका होता तो, साहित्य को समृद्ध कर सकने के सभी गुण दोनों में थे। नेहरू नीति-निर्माता के रूप में साहित्य और कला के क्षेत्र की प्रतिभाओं को पहचानने और उन्हें अनुकूल अवसर देने में हमेशा सचेष्ट दिखे। लोहिया सत्ता का एक रचनात्मक प्रतिपक्ष रचने में हमेशा साहित्य और कला की शक्ति के विश्वासी रहे। नेहरू के बारे में तो यह मान्यता ही प्रचलित हो गयी थी कि यदि वे राजनीति में न आये होते, तो एक बहुत ही महान साहित्यकार होते। लोहिया के लिखे लेखों और भाषणों में भी साहित्यिकता के आदर्श रूप कम नहीं है। अशोक वाजपेयी और नामवर सिंह जैसे ख्यात साहित्य-चिंतक, जो 'एकमत' होते कम ही देखे जाते हैं, लोहिया के लिखे को 'साहित्य की कोटि' में रखने के समान हिमायती हैं। सुनते हैं, नामवर जी ने अभी हाल में कहीं यह भी कहा कि लोहिया के लिखे को साहित्य में शामिल किये बिना हिंदी साहित्य का इतिहास अधूरा रहेगा। लोहिया के चित्त में राजनीति और संस्कृति की परस्पराभिमुखता का जो बिम्ब था, वह व्यवहार में कभी 'रामायण मेला' की योजना बनकर उभरा, तो कभी मक़बूल फ़िदा हुसैन जैसे कलाकार को पौराणिक मिथकों पर चित्र-श्रृंखला बनाने की प्रेरणा देकर! खुद उन्होंने राम, कृष्ण, शिव और द्रोपदी की जो व्याख्याएँ की, उनकी सीमाएँ जो भी हों, लेकिन वो इस बात का प्रमाण हैं कि संस्कृति के किसी भी अध्याय को रूढ़िवादियों के हवाले कर देने के विरुद्ध लोहिया कितने मुस्तैद थे।

आज के राजनेताओं में है कोई ऐसा–जिसमें तड़प हो कि उसकी जिज्ञासाओं के दरवाज़े साहित्य, संगीत, कला, दर्शन, इतिहास और विज्ञान वग़ैरह की ओर खुलते दिखें? है कोई ऐसा- जिसकी राजनीति को संस्कृति के साथ सही सलूक़ करने की तमीज़ सीखना ज़रूरी लगता हो? है कोई ऐसा-जो अपनी राजनीति को वह भाषा दे सके जिसमें से ढलकर जो कुछ निकले, वह सिर्फ़ नारा न हो, सिर्फ़ आँकड़ा न हो, सिर्फ़ घोषणा न हो?

तिलक के मुँह से जब यह वाक्य निकला होगा—'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' तो यह सिर्फ़ नारा नहीं था। यह 'स्वराज' की एक ऐसी परिभाषा थी, जो सिर्फ़ राजनीति की भाषा में संभव ही नहीं हो सकती थी; उसमें संस्कृति दृप्त-भाव से अपनी भाषा का सहारा देने को मानो स्वतः उमग उठी थी। इसी तरह गाँधी जब 'खादी' का प्रचार करने निकले, तो उन्हें उसके लिए विज्ञापन की भाषा की दरकार नहीं थी। यह भी संस्कृति की भाषा में बोल सकने के उनके शऊर का ही कमाल था कि 'खादी' सिर्फ़ एक कपड़ा नहीं, समूचे भारतीय समाज की आत्मनिर्भरता- जिसके बिना 'स्वराज' का कोई अर्थ ही नहीं होता- का प्रतीक बन गई। ऐसा प्रतीक, जिसकी अर्थगर्भिता को कवियों, चित्रकारों और अन्यान्य कलाकारों ने भी अपनी-अपनी तरह से व्यंजित किया।

यहाँ एक और बात पर भी ग़ौर करते चलें। तिलक ने महाराष्ट्र में गणेशोत्सव को एक ऐसे रूप में परिकल्पित किया, जिसमें मिथकीय चरित्र से जुड़े सांस्कृतिक उत्साह को 'स्वराज' की राजनीति से भी जोड़ा जा सके। लेकिन इस उत्साह की सीमा यह थी कि वह एक धर्म-विशेष की भावना से आबद्ध होकर रह गया। गाँधी ने 'खादी' को स्वराज की भावना के जिस प्रतीक के तौर पर हमारे मन में उतारा, और फिर कपड़े के रूप में तन पर भी, उसका किसी की भी धार्मिक भावना से कुछ भी लेना-देना नहीं था, बावजूद इसके कि 'रामधुन' उसके साथ थी। 'खादी' का प्रतीक उन प्रतीकों में से नहीं था, जो

संस्कृति को महज़ परंपरा का पर्याय मानने वाले लोग परंपरा में से उठाते हैं और उछाल देते हैं। यह अर्जित प्रतीक था, जो हमारे बहुवचनात्मक सांस्कृतिक मानस को परंपरा में कुछ नया जोड़ने के 'प्रयोग' का विवेक देता था। और, यह सब उन गाँधी ने किया, जिनके बारे में बहुतों की धारणा है कि स्वभाव से वे 'राजनीति के आदमी' से कहीं ज़्यादा 'धर्म के आदमी' प्रतीत होते थे। देश की संस्कृति-चेतना के साथ गाँधी का यह सलूक़ एक तरह से उनकी उसी जीवन-शैली का हिस्सा था, जिसे वे 'सत्य के साथ अपने प्रयोग' का नाम देते थे।

आज की राजनीति इतिहास के उन पड़ावों से भी कोई सबक लेती नहीं दिखती। उसका कोई सांस्कृतिक चरित्र रह ही नहीं गया है। उसे ऐसी किसी भाषा की भी ज़रूरत नहीं, जिसमें सांस्कृतिक प्रतीकों की खोज या उनके नये निर्माण के लिए कोई विकलता हो। ऐसे में किसी के 'रचनाकार होने' या 'कलाकार होने' का महत्त्व आँकने की मशक्कत उसकी प्राथमिकताओं में क्यों शामिल हो? साहित्यकारों, कलाकारों, समाज-चिंतकों से उसे सिर्फ़ उतना ही नाता रखना है, जितना उसकी अपनी वैधता पर मुहर लगाने के काम आ सके।

इससे ज़्यादा की तमीज़ ही नहीं जिसे, इससे ज़्यादा के तक़ाज़े भी उससे क्या किये जाएँ?

इस अंक से, अपरिहार्य कारणों वश, 'बहुवचन' की पृष्ठ-संख्या सीमित करनी पड़ रही है। थोड़ी-सी तब्दीली रूपाकार में भी। लेकिन हमें उम्मीद है, यह बदलाव 'बहुवचन' की उस प्रतिश्रुति में कोई फ़र्क़ नहीं आने देगा, जिसके साथ हम पिछले चार अंकों से अपने पाठकों के बीच रहे। यह अंक कुछ विलम्ब से आ पा रहा है, इसका हमें खेद है। कोशिश रहेगी कि अगले अंक पूर्ववत् समय पर निकल सकें।

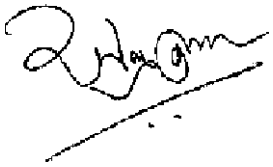

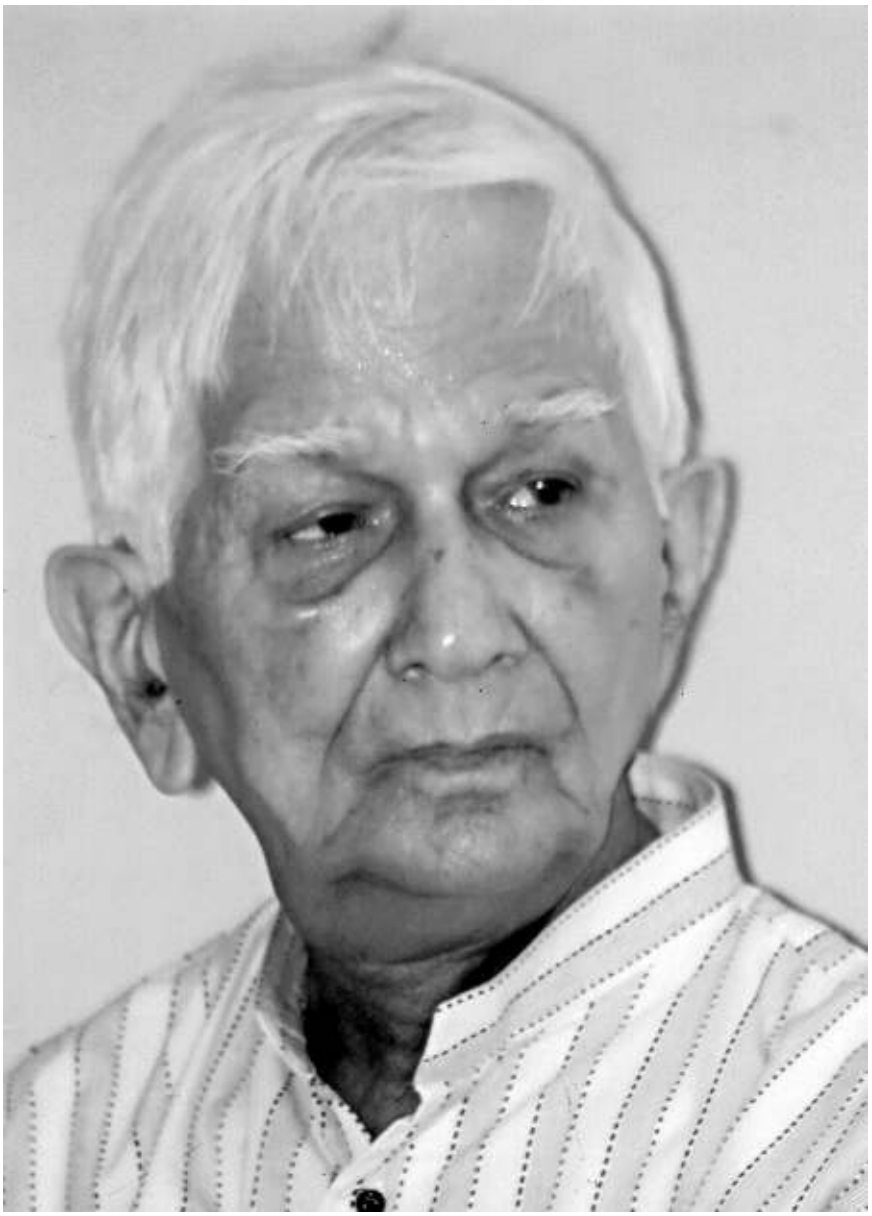

श्री मार्कण्डेय

2 मई,1930-18 मार्च,2010

स्मृति–अक्षर

पिछली शताब्दी के छठे दशक में, जब तथाकथित 'नयी कहानी' अनुभववाद को प्रश्रय देते हुए मध्यवर्ग के 'भोगे हुए यथार्थ' में रमी हुई थी, तब मार्कंडेय जैसे कुछ ही रचनाकार थे, जो समाज के श्रमजीवी तबके, ख़ासकर गाँव–देहात के लोगों के जीवन के दुख–सुख और उनके संघर्षों की गाथा लिख रहे थे। गाँव को अपनी कहानियों में ज़िंदा रखना मानो उनकी रचनाधर्मिता का संकल्प था। बाद में जब उन्होंने लिखना बंद कर दिया, तब भी वे उन नये रचनाकारों को प्रोत्साहित करते रहे, जो ग्राम–जीवन के अनुभवों के साथ कथा–विधा के क्षेत्र में आए। अपने को एक लेखक के रूप में स्थगित रखते हुए भी वे नये रचनाकारों में अपने खुद के संकल्प की निरंतरता को तलाशने के लिए उत्सुक रहे। 'कथा' पत्रिका के संपादक के रूप में उन्होंने नये लेखन को सामने लाने में कभी किसी पूर्वाग्रह को आड़े नहीं आने दिया।

गत १८ मार्च २०१० को उनके निधन से एक ऐसे अध्याय का अंत हो गया, जिसमें व्यापक रूप से हिंदी–कथा का ग्राम–पक्ष उजागर होता था और साथ ही विशेष रूप से इलाहाबाद की साहित्यिक उठा–पटक का इतिहास भी।

मार्कंडेय जी की स्मृति को प्रणाम करते हुए हम यहाँ उनकी एक अप्रकाशित कहानी 'ग़रीबों की बस्ती' को अपने पाठकों के लिए विशेष रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। १९४८ में लिखी गई यह कहानी हमें मार्कंडेय जी की धर्मपत्नी श्रीमती विद्यावती जी के सौजन्य से प्राप्त हुई। मार्कंडेय जी से अनेक लेखकों का कैसा जीवंत संपर्क रहा, इसके साक्षी हैं कुछ पत्र। साथ में, उनकी प्रसिद्ध कहानी 'हंसा जाई अकेला' का एक सारगर्भित विवेचन भी।

ग़रीबों की बस्ती

मार्कण्डेय

यह है कलकत्ता का बहूबाज़ार, जिसके एक ओर सरकारी अफ़सरों तथा महाजनों के विशाल भवन हैं और दूसरी ओर पीछे उसी अटपट सड़क के पास मिल मज़दूरों तथा दूसरे प्रकार के श्रमजीवियों की बस्ती है।

नन्हें नन्हें झोपड़ों तथा मकानों की बहुलता के कारण सारी बस्ती एक घर सी दिखाई पड़ती है। निस्सन्देह वह एक घर ही है जहां जीवन यथार्थ परिभाषा में चलता है। धर्म श्रम की छाया में विलीन है। चलना जानने वाला बच्चा भी गृह-कार्यों में सहायक है।

नूरी उसी बस्ती की एक कन्या है। वह नित्य संध्या समय अपनी एक छोटी बहन के साथ नन्हें से काठ के ठेले को ठेल-ठेल कर मूंगफली बेचती है। आज से नहीं, दस वर्ष से वह मधुर गानों से उस सड़क पर चलने वालों से परिचित है। वह भी जीवन की गतिविधि के साथ अनुभवों का जाल बुनती जा रही है। एक ओर विशाल अट्टालिकायें उसकी ओर पीठ किये खड़ी हैं। दूसरी ओर वही बस्ती अपना दामन फैलाये उससे वर्षों से कह रही है "नूरी! आ तेरी मूंगफली के ग्राहक तो इस ओर बसे हैंः तू क्यों बेकार अपने मधुर संगीत को निर्जीव दीवारों के शुष्क उर पर लुटाती है।" इस पर नूरी एक लंबी सांस लेकर कह उठीः—

"चल मरियम, अपनी बस्ती की ओर चलें। वहां लड़के मूंगफली खरीदेंगे" और अपनी गाड़ी को टेढ़ी मेढ़ी गलियों की ओर घुमा कर चल देती। नूरी की तेज आवाज़ को सुनते ही मज़दूरों के छोटे छोटे बच्चे, नूरी आई, नूरी आई" कह कर उसे घेर लेते। थोड़े ही समय में वह अपनी झोली साफ़ कर, पैसे को अपनी फटी पुरानी ओढ़नी के किनारों में बांधकर, गाड़ी को खड़खड़ाती हुई घर की ओर चली आती।

नित्य जीवन की इतनी विषमता और कठोरता के बीच जीवन बिताने वाली नूरी का हृदय अनुभूतियों का घर बन गया था। उसे लगता था जैसे जीवन आवश्यकताओं से इतना जुड़ा हुआ है कि उसे अलग करना जीवन को निर्जीव बना देना है, इसी में गति है, इसी में प्रवाह है। वह सोचती, आज उसे एक सलवार और फ्राक की बहुत आवश्यकता है। यह कितना उपहासजनक सा ज्ञात हो रहा है कि ओढ़नी के तार-तार अलग हो गये हैं, अम्मा तो इसे देखती है पर वही बेचारी क्या करें; पैसे तो होंगे नहीं। सोच रही थी कि मां ने बाहर से पुकारा, "नूरी! जा बेटी मूंगफली बेच आ, समय हो गया है" और वह चौंक पड़ी। मां कहती

गई, ''तेरे कपड़े फट गये हैं; मैं आज गुदड़ी बाजार जाऊँगी, यदि मिल गया तो लेती आऊंगी। कुछ अधिक बेच लिया करो बेटी।''

नूरी और मरियम अपने कंठस्वरों को मिलाती हुई, गा गाकर उसी काठ के ठेले को खड़खड़ाती फिर उसी राह चल पड़ीं। आज नूरी अधिक उत्साहित थी क्योंकि यदि वह अधिक बेचेगी तो उसे सलवार मिल जायेगा। वह फिर उसी पुरानी सड़क पर अपने ठेले को बढ़ाती चली जा रही थी। गाते गाते जब थक जाती थी तो कहीं कहीं रुक कर आने वाले आदमियों को भी देख लिया करती थी।

कमल ने अपने भवन के ऊपरी भाग से इस कल-कण्ठ को सुना और सोचने लगा- यह कौन है जो इतने मीठे शब्दों में गा रही है। ऊपर से नीचे झांका तो एक युवती को एक छोटी सी लड़की के साथ सर खोले देखा। उसके बाल सन्यासियों के बालों की तरह उलझे हुए थे। कमल को 6 वर्ष पहले की बात याद आ गई। उस याद में उसने बालिका नूरी को देखा जिसमें एक समय चंचलता थी वह दौड़ कर आती। ''बाबू जी यह मूंगफली है'' कहकर वह फिर लौटने की चेष्टा करती और तब मैं कह उठता ''पैसे तो लेती जा। हां, केवल मैने एक बार उससे यह अवश्य कह दिया था ''नूरी तुम क्यों बेचती रहती हो!'' कितनी सरल थी वह, कितना भोलापन था उसमें! और फिर तीक्ष्ण स्वरों के गाने ने उसके विचारों को मग्न कर दिया।

कमल धीरे धीरे नीचे उतरा तो देखते ही उसके मुख से निकल पड़ा, ''नूरी''! पर सहसा वह रुक गया, शायद कोई दूसरी लड़की न हो, पर नूरी ने देखकर पहचान लिया और लजा कर नीचे देखने लगी। कमल भी समझ गया कि यह वही नूरी है पर समय ने इस पर कितना रंग पोत दिया है। वह मौन खड़ा देख रहा था—''कितना बिखरा सौन्दर्य है कि यदि इसे इकट्ठा कर लिया जाय तो देव कन्याएँ भी परास्त हो जाँय। गौरवर्णी स्वस्थ शरीर इन फटे चिथड़ों से उन्मुक्त होकर झांक रहा है। नेत्रों में कितना माधुर्य है, कितनी शीतलता है पर इस काठ की गाड़ी तथा इन फटे चिथड़ों में सब कुछ प्रच्छन्न है।

वह सहसा यह सब सोच गया और फिर एक बार उसने पुकारा--''नूरी''! 'जी बाबू जी', नूरी ने नीचे ही सर किये कह दिया।

कमल ने उसकी ओर निर्भीकता से देखते हुए कहा, ''तू कहाँ रहती है!''

'' मैं तो यहीं रहती हूँ, आप ही बहुत दिनों पर दिखाई दे रहे हैं,'' कहकर नूरी ने सर ऊपर किया तो देखा कमल उसकी ओर देख रहा था और फिर वह सहम कर नीचे देखने लगी।

कमल जैसे इस सुप्त सौन्दर्य को परख गया हो; उसका हृदय परबस हो गया। उसने कहा, ''मैं तो छः वर्ष से अपने मामा के यहां बम्बई में रह रहा हूं। उनके देहावसान के बाद सारा कारोबार मेरे ही सर पर तो आ पड़ा है।

नूरी कुछ न बोली। थोड़ी सी मूंगफली निकाल कर मरियम के हाथों भेजवाते हुये, खड़ खड़ ..... अपनी गाड़ी को ढेलकर वह चल पड़ी। कमल दोनों हाथों से मूंगफली लेता हुआ आज जैसे किसी के प्रेमपाश में बंधता जा रहा था। उसने पैसे निकाल कर देते हुए कहा, ''ले जा, दौड़! देख नूरी गाड़ी ठेलती जा रही है और वह वहीं खड़ा देखता रहा कि यह भी जीवन का एक रास्ता है जिसे नूरी इस प्रकार काट रही है।

संसार का क्या विधान है। वह उलझ गया सोचने में। यह नूरी फिर जब तक बस्ती में नहीं चली गई उसने अपने गीतों को नहीं गाया।

दिन बीतते गये, नूरी अपने कार्यक्रम को करती गई। पर अब वह स्वतंत्रतापूर्वक गा-गा कर नहीं बेचती थी। उसे लगता था जैसे कोई मेरे गीतों को सुनने के लिए छिपा है। उसका संयम दिन पर दिन बढ़ता गया और वह नित्य प्रति अपने में खोती गई। कमल भी अपनी उसी कोठरी में बैठा बैठा मूंगफली पा जाता। पर देर होते देख उसका हृदय विकल हो उठता था। उसे रात पहाड़ सी लगती थी।

इधर नूरी अपने परबस हृदय की ठोकरों से विचलित हो उठती थी। जैसे उससे कोई कहता था ''यह बड़े बड़े प्रासाद तेरे लिये नहीं नूरी! यह तो रंगीन तितलियों के लिये हैं; तेरा निवास तो वही तृण कुटीर है जिसने तुझे सुखपूर्वक जिलाया है।'' वह चौंक पड़ती और अपनी गाड़ी लेकर चली जाती।

एक दिन जब संध्या के विशाल वक्षस्थल को बस्ती के नन्हें नन्हें घरों से निकलते हुये धुओं ने अत्यधिक धूमिल कर दिया था, कहीं-कहीं दीपक अपनी क्षीण प्रभा से मुस्कराने लगे थे। इधर नूरी अपनी मूंगफली बेचकर देर हो जाने के कारण शीघ्रता से गाड़ी दौड़ाये चली जा रही थी। उस बंगले के सामने पहुंचकर उसकी गति धीमी पड़ गई। पर वह रुकी नहीं। धीरे-धीरे चलती गई। किसी ने धीरे से पुकारा ''नूरी!''

वह शब्द पहचान गई और बोल उठी, ''जी बाबू जी!'' ''क्या तुम मुझे समझती हो?'' कमल ने संभल कर कहा। ''अच्छी तरह, बाबू जी और मैं आपको बहुत प्यार करती हूँ; पर बाबू जी ! मैं एक मुसलमान की लड़की हूँ'', —नूरी न जाने कैसे यह एक सांस में कह गई।

कमल का हृदय उमड़ पड़ा। उसने कहा, ''नूरी! धर्म हमारे प्रेम की सीमा नहीं है; हमारे हृदय का कटघरा नहीं है; वह तो स्वयं इसी हृदय से पैदा होता है। फिर मैं अपने घर का मालिक हूँ; तू इसके लिए न डर।''

नूरी ने अपनी सारी शक्ति बटोरते हुये कहा, ''बाबू जी! मैं एक मजदूरिन की लड़की हूँ और आप धनी हैं। कितनी विषमता,—कितना द्रोह है। बाबू जी; आप लोग सौन्दर्य के उपासक हैं और सौन्दर्य सदा सत्य नहीं है। वह तो समय के साथ घटता बढ़ता रहता है और इसीलिए रूप के उपासकों का प्यार भी सौन्दर्य की धरती के साथ घटता जाता हैं। देखिए बाबू जी! वह काले काले भौंरे फूलों से केवल पराग के लिए प्यार करते हैं और उसके प्राप्त होते ही उसका साथ छोड़कर उड़ जाते हैं।''

कमल, नूरी की भावपूर्ण वाणी में उलझ गया। उसे लग रहा था जैसे नूरी अनुपम सौन्दर्य के साथ साथ अपार अनुभूतियों से परिपूर्ण है। वह कुछ कहने ही जा रहा था कि नूरी ने कहा—

''देर हो रही है, मैं जा रही हूँ बाबू जी!'' और वह बिना उत्तर पाये ही अपनी गाड़ी को ठेलती बढ़ गई और दूसरे ही क्षण अन्धकार की काली दीवारों द्वारा कमल से अलग कर दी गई। कमल खड़ा खड़ा अन्तरिक्ष से आते हुए खड़ खड़..... शब्द को सुनता रहा और सोचता रहा,''नूरी कितनी दृढ़ है। कितनी विचारशील है।

सारा बंगाल पैशाचिक नरसंहार का केन्द्र बन गया था। चारों ओर हिन्दू मुसलमान की भावना विषैली सर्पिणी की की भाँति लोगों को डस रही थी। मासूम बच्चे माताओं के आगे ही जला डाले जाते थे। माताओं

के स्तन काट लिये जाते थे; कन्याओं के साथ बलात्कार किया जाता था। चारों ओर घर घर में, हृदय हृदय में साम्प्रदायिकता का विषम ज्वर फैल गया था। पर यह बस्ती अब भी अपने आन्तरिक प्रदेश में वैसी ही थी। यद्यपि बाह्य रूप में भीषण समाचारों द्वारा अन्तर अवश्य था। लोगों ने आना जाना बन्द कर दिया था। नूरी भी बन्दी की भांति अपने तृण कुटीर में पड़ी सोचा करती, ''यही है सम्पत्तिवालों का खिलवाड़ जो हमारी पवित्र बंगभूमि को नीच साम्प्रदायिकता की प्रचण्ड अग्नि में झोंक रहा है। वह अपने को भूल सी जाती और कह उठती 'कमल! तुम भी तो धनिक हो; क्या तुम भी ऐसा करते होगे? शायद तुम इस जीवन पर तरस खाते होगे पर देखो! आंखे खोल कर देखो! कितना मधुर है यह; क्योंकि इसी दरिद्रता के कारण देश में फैले हुये बहुत से गरीबों का साथ हो पाता है। उनके दुखों को मनुष्य समझ पाता है। इसीलिए मैं कहती हूं, ''रहने दो मुझे मैं यहीं रहूंगी। मुझे यहीं जीवन मिलेगा। मैं कर्मों के बीच, संघर्षों के बीच जी लूंगी। मुझे क्षमा करो बाबू जी' और यही सोचते सोचते वह उसी कुटीर के तिनकों में अपनी दृष्टि बिखेर देती।

वह यह सब सोच ही रही थी कि मां ने बाहर से पुकारा—''नूरी''!

नूरी उठकर दौड़ी गई, ''जी अम्मा''! कह कर, उसने जब देखा तो जैसे मां किसी सम्भावित विपत्ति के अनुमान से खिन्न हो उठी है और मरियम उसके कन्धे पर हाथ रखे खड़ी है।

मां बोली, ''तुमने नहीं सुना बेटी''!

''नहीं माँ''—नूरी ने उत्तर दिया।

''हमारी बस्ती में भीषण रक्तपात की तैयारी हो रही है। चारों ओर से लोग इसे जला डालने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। मैं अभी गिरती पड़ती चली आ रही हूं। पूछती नहीं मरियम से, लोग बस्ती को एक ओर से घेर रहे हैं।''

''क्यों अम्मा!''

'यह तो मैं नहीं जानती बेटी!''

मरियम ने मुंह लटकाते हुये कहा, ''तुम्हारे बाबू जी भी तो गुण्डों के एक दल को ललकार रहे थे''।

''कौन! बाबू जी; मरियम'' नूरी ने विस्फारित नेत्रों से कांपते हुये कहा।

''बहन! वही बाबू जी,'' कहकर मरियम भय से रोने लगी। नूरी कांप उठी और सर पर हाथ रख कर बैठ गई। मां जैसे इन बातों को सुन ही रही थी। वह सोचती जा रही थी।, इतने में 'मार डालो, जला दो' के साथ रोने चीखने के घोर स्वर से बस्ती गूंज उठी। मां ने घबड़ा कर कहा, ''नूरी! ओ नूरी! अब क्या हो बेटी?''

नूरी हताश हो गई थी। उसने लम्बी सांस लेकर कहा, ''क्या होगा मां; चलो यहां से'' और जैसे ही दोनों घर से बाहर निकलीं, गली में अपार भीड़ चीखती चिल्लाती प्राण-रक्षा के लिए भागती जा रही थी। वे भी उसी में शामिल हो गईं। कोई गिरता था तो उसके ऊपर से हजारों आदमी दौड़ रहे थे और गुण्डे अपने पैशाचिक कृत्यों द्वारा अपने हाथों को निरीह जनता के रक्त से रंग रहे थे और धर्म के मुंह पर कालिख पोत रहे थे। गली लाशों से पट गई। सारी बस्ती धू धू करके जल रही थी; जैसे धर्म की होली जल रही थी--मानवता की अर्थी जल रही थी।

अम्मा और मरियम का कहीं भी पता नहीं था। वे कहीं दब कर समाप्त हो गईं थीं। पर नूरी अब भी कुछ लोगों के साथ दौड़ती जा रही थी। इतने में एक भीड़ ने उसे घेर लिया। लाठियां चलने लगीं। किसी ने बढ़कर एक लाठी नूरी के सर पर मार ही तो दी और नूरी मत्थे पर हाथ रखती हुई गिर पड़ी। तेज रक्त की धार से उसका शरीर लथपथ हो गया। किसी ने पीछे से ललकारा, ''खूब किया, सलवार पहने थी।'' और बढ़ कर देखा तो अपनी सारी चेतनावों को फैलाकर चित्त लेट गई है। वही फटा सलवार और फ्राक! कमल पहचान गया और उसके सर को अपनी गोद में लेकर बैठ गया।

''नूरी! ओ नूरी!'', वह व्यथित होकर कह उठा, ''मुझे क्षमा कर दो; नूरी! आंखें खोलो।'' पर नूरी बेहोश ही रही। बहुत से लोग इस नये नाटक को देखने के लिए एकत्र हो गये थे। नूरी ने एकाएक नेत्र खोले अपने को इस दशा में देख कर वह चौंक उठी। ऊपर देखा तो बाबू जी उसके सर को गोद में लिये आंसू बहा रहे हैं। आज उसके हृदय से सहानुभूति का पंछी पर फैलाकर उड़ चुका था। वह जैसे कमल की गोद में सर खींच लेना चाहती थी।

कमल ने कहा, ''नूरी! मेरी नूरी! मुझे.....''

''कुछ नहीं बाबू जी। वह धर्म की परिभाषा याद करिए, चले जाइये- हट जाइए- मुझे मरने दीजिए; इसमें बाधक न बनिये,'' कह कर नूरी ने अपने नेत्र बन्द कर दिये।

कमल पश्चाताप की अग्नि में जल रहा था। उसने कहा, नूरी! तू क्या कह रही है?

''ठीक कह रही हूं। देखिए! वह गरीबों की बस्ती, वह निरीहों की बस्ती जल रही है; निरपराध- अकारण। मेरी खिल्ली न उड़ाइये। बाबू जी देखिये..... नूरी.....तो उसी बस्ती..... में.....तड़फड़ा रही है। उस बस्ती.... में मर..... रही..... है। यह तो.... मोह है; आसक्ति ..... है।''

वह बड़बड़ाती गई, ''क्षमा करो.... बाबू..... जी! इसे..... न जलावो; यहां.....धर्म का..... वही रूप ..... है, जो..... आपने ..... एक दिन.... कहा था। देखो.... तुम्हारी.... नूरी तुमसे प्रार्थना कर .... रही है। यह गरीबों की..... बस्ती आबाद होते.... हुये भी..... बर्बाद है,..... इसे न उजाड़ो....।'' और वह अवसन्न हो गई; मूक हो गई। कमल ने देखा,-नूरी अब उसकी नूरी नहीं रह गई है। वह गरीबों की बस्ती में,....., वह उन्मत्त सा, पागल सा बकता हुआ, उसी जलती विभीषिका की ओर दौड़ पड़ा।

कुछ दिनों बाद सुना गया कि वही गरीबों की बस्ती के उजड़े खंडहरों में एक पागल नवयुवक घूम घूम कर कुछ ढूँढ़ता रहता है। नूरी! नूरी!..... पुकार कर अपनी प्रतिध्वनि को पकड़ने के लिए दौड़ा करता है।

ग्राम–कथा की संजीवनी : 'हंसा जाई अकेला'

सूरज पालीवाल

मार्कण्डेय जिस समय कहानियां लिख रहे थे, वह समय ग्राम कथाओं की उपेक्षा का था। नागर जीवन पर पश्चिम से उधार ली गई संवेदनाएँ थोपी जा रही थीं और कहा जा रहा था कि प्रेमचंद से आगे समय जिस तेजी के साथ बदला है, ये कहानियां उस बदलते समय और समाज की हैं। ये आजादी के बाद का दौर है, जब पहले चुनाव सम्पन्न हो चुके थे और पहली पंचवर्षीय योजना लागू की जा चुकी थी। हिंदी कविता में ये दौर 'नयी कविता' का है, जिसमें यूरोप की विकसित दुनिया के नितांत निजी दुःखों को कविता में यह कहकर परोसा जा रहा था कि अब सामाजिक दुनिया समाप्त हो चुकी है। हर आदमी के अपने दुख हैं। उनकी नजर में बड़े दुख अकेलेपन, मृत्युबोध, भय, लघुता, संत्रास तथा हीनभावना....वग़ैरह है जो व्यक्ति को समाज से लगातार काट रहे हैं। समाज की चिंता करने का बड़ा समय अब नहीं रहा, अब सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों का भी समय नहीं रहा। हर आदमी अपनी तरह से अपनी लड़ाई लड़ रहा है और लगातार हार भी रहा है। इसी हार ने उसे नितांत वैयक्तिक बना दिया है। दरअसल, ये बातें एक ऐसे समाज में कही जा रही थीं जो अभी हाल ही में स्वतंत्र हुआ है और जिसने देश विभाजन की भयावह त्रासदी देखी है। जो अभी पूरी तरह आधुनिक भी नहीं हुआ, जिसमें शिक्षा का प्रतिशत बहुत कम था और जिसमें नौकरी प्राप्त मध्यवर्ग की संख्या बहुत बड़ी नहीं थी। कहना न होगा कि आजादी के तुरंत बाद हमारा हिंदी समाज उस रूप में नहीं बदला था, जिस रूप में पश्चिम में बदलाव आये थे। इसलिए 'नयी कविता' में आयातित विचारों को प्रत्यारोपित किया जा रहा था। ये नये विचार नये उभरते मध्यवर्ग को अच्छे लग रहे थे। वह पढ़-लिखकर नौकरी की तलाश करता हुआ गांव की मानसिकता से शहर को देख रहा था। गांव की अपेक्षा शहर में उसे अजनबीपन दिखाई दे रहा था, अनथक भागदौड़ और सम्बन्धों के पीछे छूटते जाने की त्रासदी को रोज देख रहा था और अनुभव कर रहा था कि समाज वाकई बदल गया था। यह मानसिकता आज भी उस मध्यवर्गीय युवक में अधिक पाई जाती है जो शहर को गांव की नजर से देखने का आदी है, उसे गांव में शहर याद आता है और शहर में गांव।

रेणु, मार्कण्डेय तथा शिवप्रसाद सिंह 'नयी कहानी' के दौर में भी गांव की संवेदना को आधार बनाकर कहानियां लिख रहे थे। एक प्रकार से यह 'नयी कहानी' के समानांतर जीवन था जो उससे अधिक संवेदनशील लेकिन अभिव्यक्ति में उतना ही जटिल और गुंफित था, जिसे व्यक्त करना कठिन था। गांव ऊपर से जितना सरल और सहज दिखाई देता है, अंदर से उतना है नहीं। इसलिए गांव की ज़िंदगी पर कहानियां बहुत कम लोगों ने लिखीं। आज भी वही स्थिति है। जो लोग गांव से जुड़े हैं, जो शादी-ब्याह, तीज-त्यौहार गांव जाते हैं वे भी गांव को परखने में भूल कर जाते हैं। यानी गांव की बदलती दुनिया उनके हाथ से भी छूटती जा रही है। गांव को रोमानी या सामंती दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। ये दोनों ही दृष्टियाँ अधूरी हैं। गांव को उसकी संपूर्णता में देखा जाना चाहिए कि आजादी से पहले और उसके बाद गांव में जिस प्रकार की नयी चीजें गई उनका असर गांव पर कैसे पड़ा और गांव ने उन चीजों को कैसे स्वीकार किया? यह असर और स्वीकार दोनों ही शहरी लोगों से अलग दिखाई देगा। इसे जानने के लिए किसी बहुत बड़े सिद्धांत की आवश्यकता नहीं है, बस गांव की सामाजिक जिंदगी में आ रहे अलगाव और परस्पर रागद्वेष को समझने की जरूरत है। यह भी जरूरी है कि यह अलगाव और राग-द्वैष किस वजह से आ रहा है। रेणु ने अपने पहले उपन्यास 'मैला आंचल' में पहली बार जातियों की सामाजिक स्थिति और गांव के विकास के साथ पनपते राग-द्वेष को रेखांकित किया है। कहना न होगा कि भूमि सम्बन्ध और राजनीतिक चेतना कैसे गड्डमड्ड होकर गांव के विकास को अवरुद्ध करती हैं, रेणु ने बगैर सांख्यिकी के उबाऊ आंकड़ों के इन चीजों को बारीकी से उद्घाटित किया। जो लोग शहर की ही जिंदगी से परिचित हैं, उन्हें यह चित्रण अस्पष्ट दिखाई देते हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि जो राजनीतिक चेतना गांव में आजादी के पहले गई थी, वह दिशाभ्रम की शिकार कैसे हो गई? रेणु के उपन्यासों में ही नहीं बल्कि कहानियों में भी यह दृष्टि देखी जा सकती है। शिवप्रसाद सिंह और मार्कण्डेय आदि ग्राम-कथाकारों ने भी गांव पर लिखते समय इस समग्र दृष्टि को ही आधार बनाया है।

मैं यहां मार्कण्डेय की चर्चित कहानी 'हंसा जाई अकेला' पर बात करना चाहता हूँ। इस लिए कि यह कहानी ग्राम कथाकारों की समृद्ध परंपरा को आगे ले जाती है। 'हंसा जाई अकेला' 'कहानी' पत्रिका के जनवरी, 1956 के नववर्षांक में प्रकाशित हुई थी। कहना न होगा कि यह अंक इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसमें 'नयी कहानी' की उपलब्धि कही जानी वाली कहानियाँ यथा- अमरकांत की 'डिप्टी कलक्टरी', चंद्रकिरण सौनरेक्सा की 'बर्थ डे', कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया', मोहन राकेश की 'मलवे का मालिक', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', उपेंद्रनाथ अश्क की 'मेमने' तथा मार्कण्डेय की 'हंसा जाई अकेला' प्रकाशित हुई थीं। एक अंक में इतनी सारी अच्छी, चर्चित और कालजयी कहानियों का प्रकाशित होना आज भी आश्चर्य की बात है। पर संपादक का यह दायित्व है कि वह अपने समय की पूरी रचनात्मकता को प्रकाशित करे। भैरव प्रसाद गुप्त को इसीलिए बड़े संपादक के रूप में याद किया जाता है। उनकी दृष्टि और अनुशासन ने उन्हें चाहे बड़ा कथाकार बनने से रोका हो पर दूसरों को बड़ा कथाकार बनाने तथा उनका समुचित मूल्यांकन कराने वाले वे महत्वपूर्ण संपादक थे। मुझे लगा कि मार्कण्डेय जी के न रहने पर उनकी इसी कहानी पर बात करनी चाहिए क्योंकि कोई

कहानी इतनी बड़ी कहानियों के साथ प्रकाशित होकर लगातार महत्वपूर्ण बनी रहे, यह कम बड़ी बात नहीं है।

'हंसा जाई अकेला' मार्कण्डेय की पहली कहानी नहीं है। इससे पहले उनका कहानी संग्रह 'पान फूल' 1954 में प्रकाशित हो चुका था, जिसमें गांव की जिंदगी के रागात्मक संबंधों तथा अंतर्विरोधों को एकसाथ उजागर किया गया था। 'हंसा जाई अकेला' में भी गांव है, गांव के चरित्र हैं, उनका अकेलापन है। सामूहिक जिंदगी का यह अकेलापन शहर से अधिक घातक है। इसे समझने के लिए जिस दृष्टि की जरूरत होती है वह मार्कण्डेय के पास है। इस कहानी को पढ़ते हुए मुझे बार-बार यह अवश्य लगा कि रेणु कहीं न कहीं यहां भी उपस्थित हैं। असल में एक बड़े लेखक के प्रभाव से मुक्त हो पाना कठिन है। बड़े लेखक की प्रसिद्धि नये लेखक के अवचेतन में इस कदर ज़गह जमाये रखती है कि उससे बच पाना धीरे-धीरे और कठोर संयम से ही संभव हो पाता है। बाद की कहानियों में मार्कण्डेय इस प्रभाव से मुक्त होते दिखते हैं पर इस कहानी में तो जो गन्हीं महात्मा आते हैं वे मैला आंचल से मुक्त नहीं होते। इसी तरह सुशीला जी को क्या लछमी दासिन या मंगला देवी के रूप में नहीं देखा जा सकता? बालदेव और कालीचरन जिस प्रकार लछमी दासिन और मंगलादेवी के बिना अधूरा अनुभव करते हैं। उसी तरह हंसा भी। बालदेव को जिस तरह बीजक में भी लछमी दासिन की महक आती है उसी तरह हंसा को भी गुड़ की मीठी गंध सुशीला जी के शरीर से आती है। यह गांव की ठेठ पहचान है जो कठिन संघर्ष और अकेलेपन में भी मिठास घोलती चलती है।

कहानी की शुरुआत बहुत सामान्य धरातल पर होती है। हंसा, बाबा और अन्य गांव बालों के साथ मजगवां के दंगल से लौट रहे हैं। दंगल समाप्त होते रात हो गई थी। अंधेरे में गांव लौट रहे हैं। हंसा को रतौंधी की बीमारी है, रात में कुछ दिखाई नहीं देता। इसी कारण बीच के एक गांव में एक जवान स्त्री से टक्कर हो गई। सावन भादों की काली रात, रिम-झिम बूँदे पड़ रही थीं। यह दृश्य न केवल रात का है बल्कि हंसा की मानसिकता बताने के लिए भी निर्मित किया गया है। हंसा अकेला है, शादी हुई नहीं। इसलिए अगनू कहते हैं 'चलो महरारू तो छू लिया, ससुरे की किस्मत में लिखी तो है नहीं।' अकेले और बगैर घर-परिवार वाले हंसा की गांव में यह स्थिति है। ऐसे लोग एक उम्र के बाद गांव में हंसी मजाक के पात्र हो जाते हैं। बड़ों से लेकर नये जवान हो रहे बच्चों तक उन्हें गंभीरता से नहीं लेते। कहानी में आये हंसा के परिचय से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। 'उसे लोग हंसा कहते हैं। काला-चिट्टा, बहुत ही तगड़ा आदमी है। उसके भारी चेहरे में मटर-सी आँखे और आलू-सी नाक उसके व्यक्तित्व के विस्तार को बहुत सीमित कर देती हैं। सीने पर उगे हुए बाल किसी भींट पर उगी हुई घास का बोध कराते हैं। घुटने तक की धोती और मारकीन का दुगजी गमछा उसका पहनावा है। वैसे उसके पास एक दोहरा कुर्ता भी है, पर वह मौके महल या ठारी के दिनों में ही निकलता है। कुर्ता पहनकर निकलने पर गांव के लड़के उसी तरह उसका पीछे करने लगते हैं, जैसे किसी भालू का नाच दिखाने वाले मदारी का। हंसा दादा दुलहा बने हैं, दुलहा। और नन्हें नन्हें चूहों की तरह उसके सारे शरीर पर रेंगने लगते हैं। कोई चुटइया उखाड़ता है तो कोई कान में पूरी की पूरी अंगुली डाल देता है। कोई लकड़ी के टुकड़े से नाक खुजलाने लगता है तो कोई उसकी बड़ी बड़ी छातियों को मुंह में

लेकर हंसा, माई हंसा माई का नारा लगाने लगता है। इसी बीच एक मोटा सोटा आ जाता है। वह हंसा के कंधे से सटाकर लगा दिया जाता है और हंसा दो एक बार उस पर अंगुलियां दौड़ाकर आलाप भरते भरते रुककर कहता है-बस न ! और लड़के चिल्ला पड़ते हैं- नहीं, दादा! अब हो जाये! कोई पैर से लटक जाता है तो कोई हाथ से। फिर वह मगन होकर गाने लगता है- 'हंसा जाई अकेला, ई देहिया ना रही..।' यह हंसा का परिचय है, जो दंगल से लौटते समय की घटना के बाद दिया गया है। इससे पहले इसकी आवश्यकता भी नहीं थी। अगनू इससे पहले उसका मज़ाक उड़ा ही चुके थे। लेकिन उस मजाक में परिचय की उत्सुकता छिपी हुई थी। इसलिए परिचय बाद में दिया गया है।

कहानी के आरंभ में भी जब सब लोग उसे ढूँढ रहे हैं और चिंतित हो रहे हैं कि कहीं पकड़ा तो नहीं गया तब अचानक उसकी आवाज सुनाई देती है 'हंसा जाई अकेला, ई देहिया ना रही मल ले, धो ले, नहा ले, खा ले, करना हो सो करले, इ देहिया....।' हंसा की इस निर्भयता की तारीफ की जानी चाहिए थी, उसकी इस निश्छल भावना को गहरे अर्थ में लेना चाहिए था पर ऐसा नहीं होता सभी लोग उसका मजाक उड़ाते हैं। वह कहता है 'होई गई गलती, भइया! मैं का जानूं कि मेहरिया है। समझा, तुममें से कोई रुक गया है।' अगनू हंसा के इस सहज तर्क को स्वीकार नहीं कर उत्तर देते हैं 'अगनू ने कहा-सरऊ सांड़ हो रहे हो, अब मरद-मेहरारू में भी तुम्हें भेद नहीं दिखाई पड़ता?' हंसा की रतौंधी की बीमारी तथा उसके अकेलेपन को मजाक का विषय उसके ही आसपास और गांव-जवार के लोग बनाते हैं। गांव में अकेले बिना शादी के रहना मुश्किल है, ऐसे लोगों पर या तो अपने ही परिवार के लोग फंदा कसते हैं, उसकी जमीन जायदाद के लोभ में उसे अपनेपन का अहसास करने का ढोंग करते हैं या उसकी उपेक्षा या मजाक करते हैं, जैसा हंसा के साथ हो रहा है। उस दिन बारह बजे रात में लौटकर आये तो बाबा ने अपने ही घर खाने के लिए कहा 'कहां जायेगा ठोंकने पकाने इतनी रात को, यहीं दो रोटी खा ले। और झरबेरियों के कांटे देखे, तो उन्हें जैसे आज पहली बार हंसा की भीतरी जिंदगी की झांकी दिखाई दी। इतनी खेत-बारी, ऐसा घर-दुआर, पर एक मेहरारू के बिना बिलल्ला की तरह घूमता रहता है।' इसी तरह बाबा की घरवाली खाना देते हुए कहती हैं 'अब हंसी-ठिठोली छोड़के, विआह करो! जब तक देह कड़ी है, दुनिया-जहान है, नहीं तो रोटी के भी लाले पड़ जायेंगे। कहते क्यों नहीं अपने भइया से। गूंगे-बहरे, कुत्ते-बिल्ली सबका तो बियाह रचाते रहते हैं पर तुम्हारा धियान नहीं करते। खेत-बारी, जगह-जमीन सब तो हैं।'

रात अंधेरे में रतौंधी के चलते हुई इस घटना ने हंसा को विचलित कर दिया था। अब तक का जीवन जिस ईमानदारी और चरित्र की नैतिकता के बल पर जीता आया था, वह एक पल में मिट्टी में मिल गई। उसने कभी सोचा भी नहीं था कि उम्र के इस पड़ाव पर आकर इस तरह को सुनने को मिलेगा। एक तो लोग वैसे ही मजाक करते रहते हैं और ऊपर से उन्हें मजाक का आधार भी मिल गया। अब उसके पास पश्चाताप करने के अलावा और क्या है? इसलिए 'भउजी की बात हंसा के कानों में गूंज रही थी, जब-तक देह कड़ी है, हंसा ने करवट लेते-लेते, हाथ से बूढ़े के डंडे की चोट का अंदाज लिया और भुनभुनाने लगा, जान-बूझकर तो कुछ नहीं किया। हम तो भइया की तरह मेहरारू की आंख उठाकर भी नहीं देखते। ई रतौन्ही साली जो न कराये! उसने इधर-उधर आंख चलाई, पर

कुछ नहीं, सब मटमैला, धुंध!' यह ऐसा पश्चाताप है जिसका दुख तो है पर उस दुख का उपाय कोई नहीं है। अचानक हुई घटना ने हंसा को बहुत पीछे छोड़ दिया था। आज तक उसने किसी मेहरारू को आंख उठाकर नहीं देखा, यह हंसा स्वयं कह रहा है— रात के अंधेरे में अपने आप से। लेकिन गांव वाले औरतों को लेकर उससे मजाक हमेशा करते रहे हैं। कभी हंसा के मन में भी आया होगा किसी औरत को छूने का तब भी उसका नैतिक मन और गांव की सामाजिक जिंदगी में ओढ़ी हुई नैतिकता उसे रोकती होगी। इसलिए वह दावे के साथ किसी मेहरारू को आंख उठाकर न देखने की हकीकत को बयान करता है। गांव में हंसा जैसे लोग आज भी बहुत सारे मिल जायेंगे, किसी कारण से जिनका विवाह नहीं हुआ। एक जमाने में गांव में विवाह होना खुशकिस्मती मानी जाती थी। परिवार के चार-पांच भाइयों में दो एक की ही शादी हुआ करती थी, बाकी को परिवार का मुखिया बनाकर उनके जम्मे सारी सामाजिकता सौंप दी जाती थी। उस सामाजिकता का निर्वाह करने में वे सारी जिंदगी गुजार देते थे। परिवार या गांव के किसी आदमी को उनके विवाह की चिंता नहीं होती थी। ऐसे लोगों को गांव में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता, एक ओर उनका अकेलापन और दूसरी ओर गांव की उपेक्षा से उपजा मजाक। हंसा को पहली बार इस बात का अहसास हो रहा है।

यह हंसा की जिंदगी का एक पक्ष है जो गांव की मानसिकता और उसमें हंसा की पीड़ा को एक साथ उभारता है। यहां कहानी हंसा तक ही सीमित रहती है पर दूसरा पक्ष कहानी को विस्तार देता है, कहानी को बड़ा बनाता है। अचानक फड़ीस बाबू साइकिल से आते हैं और अपने झोले से नोटिसों का पुलिंदा निकालकर बाबा को संभालते हैं। ये नोटिस कांग्रेस की जिला कमेटी ने भेजे हैं जिनमें सूचित किया गया है कि सुशीला बहन आज गांव में गांधी जी का संदेश पढ़कर सुनायेंगी। हंसा का मन गांधीजी की बातें सुनने में खूब लगता है। 'पाला पड़े, चाहे पत्थर, काम से खाली होकर हंसा बाबा के पास जरूर आयेगा। कभी देश-विदेश की बात, कभी महाभारत-रामायण की बात। लेकिन गन्ही महात्मा की बात में उसे बड़ा मजा आता है। किसी ने समझा दिया है कि गांधी जी अवतारी पुरुष, हैं।' एक तो पहली घटना से मुक्ति और दूसरी गांधीजी के प्रति श्रद्धा ने हंसा को उल्लास से सराबोर कर दिया। यह घटना उसके जीवन में आत्मविश्वास से भरकर आई थी, वह इसे खोना नहीं चाहता था। मार्कण्डेय दोनों घटनाओं को इस प्रकार बुनते हैं कि दोनों के बीच किसी प्रकार का झोल नहीं दिखाई देता अपितु हंसा अपने बारे में जो सोच रहा था उसकी पुष्टि दूसरी घटना से होती है। इसलिए 'हंसा ने खूंटी पर टंगी ढोलक उतारकर गले में लटका ली और एक ओर पड़े फटहे झंडे को लेकर एक लाठी में टांग लिया। दो बार डोलक पीटी। फिर, जागा हो बलमुआ, गन्हीं टोपीवाले आय गय..... गकर, ढोलक पर घड़म-घड़ाम, घुम-घुम....।' हंसा ने कुछ ही समय में सारे गांव को इकट्ठा कर दिया। सुशीला जी की सभा सम्पन्न हो गई। रतौंधी के मारे वह सुशीलाजी को देख नहीं पाता पर अनुभव करता है 'आवाज तो कड़ी है, और गन्ने के ताजे रस-सी महक कहां से आ रही है?' यह सूत्र है जो कहानी को प्रेम की भीनी गंध में डुबोता है। यहां कहानी रेणु की 'रसप्रिया', 'तीसरी कसम', आधी रात की गंध से मिलकर अब तक के इकहरेपन को दूर करती है। हंसा के जीवन में कोई स्त्री अभी तक नहीं आई, यह कहानीकार का भी कहना है और हंसा का भी। पर अब सुशीलाजी आई तो ऐसी कि रात

के अंधेरे में उसका घर जगर-मगर हो गया। घर में और कोई नहीं है, सिवाय एक लालटेन और सुशीलाजी के। पर लालटेन की रोशनी हंसा के लिए कोई अर्थ नहीं रखती, रतौंधी के कारण उसे कुछ नहीं दिखाई देता। घर में पूड़ी बनने की तैयारी हो रही है। सुशीलाजी ने आटा गूंथा, तरकारी काटी अब पूड़ियों के लिए घी की आवश्यकता है। सावन की अंधियारी रात और बादलों की रिमझिम। बीच-बीच में हवा का सर्द झोंका। प्रकृति उद्दीपन का काम कर रही है, इससे पहले भी इस प्रकार के मौसम रहे होंगे पर अकेले हंसा को उनकी अनुभूति नहीं हुई। इस अनुभूति के लिए वे सब उपादान उपस्थित हैं जो होने चाहिए। इसलिए कहानीकार बहुत सावधानी से बिना किसी उतावलेपन के हंसा और सुशीलाजी के परस्पर व्यवहार को रेखांकित करता है। 'घर की अंधेरी भंडरिया। दोनों भटकते हैं हंसा कुछ बताता है। सुशीलाजी कुछ सुनती हैं। आंख कुछ देखती है। हाथ कुछ टटोलते हैं। बहरहाल, पता नहीं, कहां क्या है? अंधेरे में जैसे आंख, तैसे बेआंख। दोनों को सहारा चाहिए। कभी वह लुढ़कता है, कभी वह लुढ़कती है और दोनों दृष्टिवान हो जाते हैं, दिव्यदृष्टिवान।'

हंसा के घर और हंसा के साथ का यह दृश्य सामान्य नहीं है। अकेलापन, रतौंधी, अंधेरा, बादलों की रिमझिम तथा का हवा का सर्द झोंका सब मिलाकर जो दृश्य बनाते हैं, वह हंसा जैसे व्यक्ति के जीवन को सरस बना देने के लिए पर्याप्त है। मार्कण्डेय यहां चुन-चुनकर और बहुत ही कृपण होकर शब्दों का प्रयोग करते हैं। ऐसे दृश्यों के लिए बहुत कुछ कहने की आवश्यकता नहीं होती, न होनी चाहिए। अभी पिछले वर्षों में मो. आरिफ ने अपनी कहानी लू में भी ऐसे ही कम शब्दों से रात-मिलन का दृश्य बनाया था। हो सकता है यह मार्कण्डेय की इस कहानी का प्रभाव उन पर रहा हो। वर्षों बाद भी शब्द किसी न किसी लेखक में फिर से जीवित हो ही सकते हैं, यही तो उनकी ताकत है और यही उनका अनश्वर संसार है।

'हंसा जाई अकेला' कहानी की एक ताकत और है। और वह है इस महामिलन के बाद निमोनिया में सुशीलाजी की मृत्यु। यह मृत्यु कहीं बाहर होती, हंसा से मिलने से पहले होती या होती ही नहीं तो कहानी इतनी ताकतवर नहीं बनती। ताकत इसमें है कि जो हंसा अब तक अकेला था, जिसके लिए किसी स्त्री को छूना, आंख उठाकर देखना या उसके बारे में कोई विचार करना बुरा माना जाता था, वहीं हंसा अपने आंगन में, रात के अंधेरे में, रिमझिम बादलों और सर्द हवा के मौसम में सुशीलाजी के साथ लोटपोट हुआ। मिलन के बाद का विछोह बहुत दुखदाई होता है। इस दुख का अनुभव पहली बार हंसा को हुआ है। इसलिए सुशीलाजी की मृत्यु के बाद हंसा और अन्य लोगों की मनःस्थितियों को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है 'अंत में सुशीलाजी की सांस बंद हो गई। हाय मच गई। बच्चे फूट-फूटकर रोने लगे। हंसा ने बकरी के लिए पत्ता तोड़ने वाली लग्गी में तिरंगा डांगकर, हाथों से ऊपर उठा लिया और अपना बिगुल फूंकने लगा। उसकी हंसी लोगों के मन में भय पैदा करने लगी पर वह हंसता रहा।' हंसा की विक्षिप्त मनोदशा का यह चित्र भय पैदा ही करेगा, गांव के दूसरे लोग दुखी हो सकते हैं पर हंसा तो इस स्थिति में भी नहीं रहा कि वह रो भी सके और दुख भी प्रगट कर सके। उसका तो जैसे सब छिन गया हो, सब कुछ पाकर खोने वाले की क्या स्थिति हो सकती है- यह स्थिति हंसा की है। इसलिए उसके बाद से उसने खेती नहीं की, उसके खेत में घास उगी है, मकान ढह गया है,

आजादी के बाद राजनीतिक पीड़ित होने के कारण मिली पेंशन को वह पोस्टर समझकर घरों में चिपका आता है। अंत में 'अब भी कभी-कभी वह आजादी लेने की कसमें खाता है। उसके तमतमाये हुए चेहरे की नसें तन जाती हैं और वह अपना बिगुल फूंकता हुआ कभी धान के खेतों, कभी ईख और मकई के खेतों की मेंड़ों पर घूमता हुआ गाया करता है हंसा जाई अकेला।'

'हंसा जाई अकेला' न केवल 'नयी कहानी' के दौरान, बल्कि आज भी इसलिए अलग पहचान लिए हुए हैं कि इसमें कहानी के एक पात्र हंसा और हंसा जाई अकेला के वैदांत दर्शन को एक कर कहानी को गूंथा गया है। हंसा के व्यक्तिगत जीवन के अकेलेपन और उसके भरे हुए दिनों के बाद के जीवन को गांव, देश और आजादी के साथ देखा गया है। जब वह अकेला था तब भी कोई मानवीय कमी उसके अंदर नहीं थी, तब भी उसे बाबा के पास जाकर गांधी चर्चा करना अच्छा लगता था और बाद में भी उसे गांधी, आजादी और तिरंगा ही अच्छे लगते हैं क्योंकि वह 'गन्ही महात्मा', जवाहिरलाल और जनता की फौज' तीन शब्दों के अलावा और कुछ जानता ही नहीं। हंसा का जीवन सामान्य नहीं है, वह अनपढ़ और अकेला होते हुए भी बड़े उद्देश्यों के लिए जीवन जीता था इसलिए गांव के लोग चाहे कितनी ही मजाक करें वह उनसे अलग आजादी की फ़ौज का एक अनन्य सिपाही था। विक्षिप्त होकर भी उसे यही तीन शब्द याद रह गये थे। इसलिए यह कहानी केवल हंसा के जीवन की कहानी न होकर उस जैसे अनेक लोगों की कहानी बन गई है जो आजादी के दौरान धुर देहात में गांधी के संदेशों के आधार पर आजाद भारत का सपना देख रहे थे।

मार्कण्डेय जी ग्राम–कथाकार थे। गांव के जीवन की कमज़ोरी और ताक़त को वे पहचानते थे। वे जानते थे कि जिस हंसा को पूरा गांव उपहास का पात्र बनाता था, उस हंसा के जीवन का लक्ष्य निजी जीवन की उपलब्धियाँ नहीं हैं। आज़ादी की लड़ाई में ऐसे ही अनेक हंसा गांधी जी की ताकत बने थे। प्रेम के वियोग का बड़ा दुःख कैसे एक शब्द कहे बिना ही सब कुछ कह जाता है और हंसा को निजी दुःख सुख से विरत किये रहता है, यह कहानी इसलिए याद की जाती रहेगी। मार्कण्डेय जी इसलिए मध्यवर्गीय दुनिया के समानांतर अपनी कहानी को पूरी ताक़त के साथ खड़ा करते हैं।

मार्कंडेय के नाम कुछ लेखकों के पत्र

इसराइल का पत्र

कलकत्ता - 11.12.64,

प्रिय मार्कण्डेय भाई,

माया का यह अंक देखने के साथ ही यहाँ दिलचस्प चर्चा छिड़ गई है। हजार प्रतिक्रियाएँ! हजार तरह की बातें। कुछ लोगों का कहना है, पिछले दशक के '54,'55 के आसपास 'कहानी' पत्रिका के माध्यम से जो कुछ हुआ, वह इस दशक में माया के माध्यम से इस बार होगा, एक नयी शुरुआत! साथ ही कुछ बंधु आतंकित भी हैं। ज़ाहिर है, अलग-अलग कारण हैं। डॉ. साहब का समकालीन कहानी पर लिखना—भी उत्सुकता से भरा एक इंतिज़ार है। क्योंकि वे पिछले दिनों बहुत-बहुत ख़ामोश रहे, और उन पर लगातार हमले भी हुए। उन्होंने ही कुछ विवादग्रस्त प्रश्न भी उठा रखे थे। लोगों को इसका इंतजार है कि इस बदली परिस्थिति और बदले संदर्भ में उनका अब क्या कहना है।

भीष्म साहनी की आलोचना निर्मम आलोचना है। और इस बोधहीनता की सच्चाई! लोग बहुत-अलग-अलग अर्थ लगा रहे हैं। एक इस तरह कि इस स्थापना को व्यक्त करने के लिए 'बोध' के बदले किसी और शब्द का सहारा लिया जाता। क्योंकि यह 'बोध' खास अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है—शायद-सजगता और चेतनशीलता के अर्थ में। जो हो, था कमाल का और अछूता। यह तो ऐसा ही है— अबोध से बोध और फिर सम्पूर्ण बोधहीनता, जैसे आदिम साम्यवाद से कई व्यवस्थाओं से चलते हुए फिर साम्यवाद तक! बात अच्छी लगी है।

यहाँ बंगला में सुभाष मुखोपाध्याय की एक मशहूर कविता 'पा राखार जायगा' ('पाँव रखने की जगह') की 'नंदन' में ऐसी कड़ी और सटीक आलोचना हुई कि वे पूरी तरह हास्यस्पद स्थिति में खड़े हो गये। कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं:—

''हातटा सरिये निन ना, मशाई!
उ दादा, एकटू एगिये जान-
दया करे
सर, एक टू पाराखार जायगा....।''

जाहिर है कि सर, महाशय, दादा-भइया कहकर भीड़ भरी बस में कवि पाँव रखने की जगह की दया मांग रहा है। स्वर में कातर अनुनय विनय है।-बस, इस लबो-लहज़ा की सख्त आलोचना हुई है। बहुप्रशंसित कविता उखड़ गई है और सुभाष बाबू साथ ही हास्यास्पद स्थिति में खड़े हो गये हैं।

कुछ कथित मानवीय गुण ऐसे हैं, जिन्हें हर वैचारिक प्याले में भरकर परोस दिया जाता है। और वे भी शराबे-कुहन की तरह अपना नशा बरकरार रखते हैं।

मैं अपने उपन्यास पर काम कर रहा हूँ। थोड़ा-सा लिखना बाकी है। उम्मीद है, जनवरी तक सब ठीक कर लूँगा। पूरा हो जाने पर ही उस पर सोच विचार हो।

'अधूरी कथाएं' नाम की एक कहानी 'कहानी' के नववर्षांक के लिये भेजी है।

मैंने विमल वर्मा को प्रश्न प्रतिक्रिया दे दिया था। हो सकता है, उन्होंने कुछ लिखकर भेजा हो।

और सब ठीक है। पत्र देंगे। वक्तव्य और तसवीर तो मिली होगी।

आपका
इसराइल

ओमप्रकाश ग्रेवाल का पत्र

कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। दरअसल इलाहाबाद से आने के बाद मुझे पत्र लिखना चाहिये था। आपसे मिलकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई थी और आपसे तथा भैरवजी से बातचीत कर पाना मेरे लिये एक बहुत ही सार्थक अनुभव रहा। इधर कछ व्यस्त रहा हूँ। पिता जी की बीमारी की खबर मिली तो घर जाना पड़ा। कल ही लौटा हूँ। मुझे यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि आपके घर में भी परिवार के सदस्यों को बीमारी का सामना करना पड़ा है। उम्मीद है, अब सब स्वस्थ होंगे।

जैसा कि आप जानते हैं, आपके आग्रह को टालना मेरे लिये संभव नहीं है। किन्तु आपसे इतना निवेदन अवश्य है कि मुझे कुछ अतिरिक्त समय दीजिए। आपको मेरी दिक्कतों और सीमाओं का कुछ अनुमान तो है ही। पिछले त़क़ाज़े भी पूरे नहीं कर पा रहा हूँ। पता नहीं क्यों, इधर कुछ लिखने को बन ही नहीं पा रहा। कुछ व्यस्तताएँ भी रही हैं। 'कथा' की नवलेखन पर बहस के मुख्य बिन्दुओं को समेटते हुए कुछ लिखूँगा अवश्य, क्योंकि आपका आदेश है। पर कुछ समय और दीजिए।

इतनी परेशानियों के बावजूद आप 'कथा' को निकालते रहने का दृढ़ निश्चय बनाये हुए हैं, इससे हमें बड़ी प्रेरणा मिलती है। क्योंकि यहाँ पत्रिकाओं के पढ़ने वाले कम हैं, अतः आप जब भी 'कथा' का अगला अंक छापें, उसकी कुछ प्रतियां भेज दें, उन्हें पढ़ने वालों में बांट दिया जायेगा। स्थायी रूप से पाठक संभवतः नहीं मिलेंगे। हां, आप हरियाणा सरकार के लोकसंपर्क विभाग के निदेशक के पास 'कथा' को 'advertisement' देने के लिए पत्र अवश्य भेजें और उसमें यह भी लिख दें कि पंजाब यूनिवर्सिटी के पब्लिकेशन ब्यूरो के 'advertisement' भी इसमें नियमित रूप से छपते हैं। मैं भी किसी परिचित

व्यक्ति के माध्यम से कोशिश करूंगा कि हमें 'कथा' के लिए कुछ 'advertisement' मिल जाये।

भैरव जी को भी पत्र नहीं लिखा है। उनसे कहें कि जल्दी ही पत्र लिखूंगा। आप परिवार सहित स्वस्थ और प्रसन्न होंगे।

आपका-
ओम प्रकाश ग्रेवाल

श्रीकांत वर्मा का पत्र

13,जनपथ नयी दिल्ली-1
20-1-59

प्रिय मार्कण्डेय,

पत्र मिला। प्रसन्नता हुई। नेमि जी से बात करूँगा, निर्मल से भी। हाँ, नील की वह किताब यहाँ उपलब्ध नहीं है। 'कृति'2 में ज़रूर कछ गड़बड़ी हुई है, पर तीसरा अंक मैंने अपने सामने डिस्पैच करवाया है। पोस्ट की ही गड़बड़ी होगी। भविष्य में सावधानी और अधिक बरती जाएगी। 'कृति'-4 में 'भूदान' तथा कुछ अन्य पुस्तकों का विज्ञापन चला जाएगा। भूमिका की भाषा जरा ज़्यादा कड़ी हो गयी थी और कहानी की सभी उपलब्धियों को केवल लोकांचल तक सीमित कर देना सही नहीं जान पड़ा। शेष तो ठीक ही है। तुम कहानी की यह चर्चा आगे ज़रूर बढ़ाओ। 'कृति' में सहचिंतन के अंतर्गत इस पर काफी कुछ लिखा जा सकता है।

'प्रस्तावित रचना' के अंतर्गत 'जिंदगी और जोंक' की बहुत सारी आलोचना हुई, इसका मुझे भी बहुत दुख है क्योंकि अमरकांत की कहानियाँ मुझे प्रिय हैं। पर क्या किया जाए। आलोचक नामक प्राणी हिंदी में है नहीं और लेखक आलोचनाएँ लिखते नहीं। बहुतों से कहा, कोई तैयार नहीं होगा। अमरकांत से क्षमा दिला देना।

अब यह 'प्रस्तावित रचना' का स्तंभ ही हट रहा है। केवल समीक्षाएं होंगी। और अच्छी समीक्षाएँ जाएँगी।

तुम्हारी पुस्तक पर कोई समझदार आदमी ही लिखेगा। विश्वास रखो।

तुममें, तुम्हारे लेखन में और तुम्हारे व्यवसाय में –सभी में दिलचस्पी है। इतना भरोसा मुझ पर हमेशा रखो।

तुम्हारा
श्रीकांत

शरदः शतम्

राम मनोहर लोहिया के जन्मशती वर्ष पर भी उन्हें गंभीरता से याद करने की कोई ख़ास दिलचस्पी कहीं दिखी हो, ऐसा नहीं लगता। अच्छा ही हुआ, यह दिलचस्पी दिखाने की सुधि उन्हें भी नहीं रही, जो अपने को 'लोहिया के लोग' कहने की राजनीति करते रहे।

आज ज़रूरत है– आलोचनात्मक दृष्टि से लोहिया के पुनर्पाठ की। लोहिया के चिंतन से पूर्ण सहमति न रखने से भी लोहिया अप्रासंगिक नहीं हो जाते। कम से कम, यह तो है ही कि उन्होंने भारतीय समाज के संदर्भ में– उस 'आमजन' के होने का मर्म समझा जिसे जीने का कोई सार्थक आधार न तो पुश्तैनी तौर पर हासिल है और न ही मौजूदा व्यवस्था में दिये गये हक़ के तौर पर। लोहिया ने धर्म और मिथकों के भीतर से भारत के 'लोक–मन' की खोज का जो अभियान चलाया, उसे गहराई से परखने का विवेक बना रहता तो हम धर्म की राजनीति करने वालों की चालाकियों से भी सावधान रह सके होते और धर्म की दकियानूसी के पाबंदों की नादानियों से भी। 'रामायण मेला' की अवधारणा हो या राम, कृष्ण, शिव, द्रोपदी के मिथकों का विवेचन–यह सब मानो लोहिया द्वारा भारतीय संदर्भ में आधुनिकता के एक देसी संस्करण की प्रस्तुति के प्रयास थे। ऐसे प्रयासों की सीमाओं और संभावनाओं को रेखांकित करते हुए एक लेख यहां प्रस्तुत है। साथ ही 'धर्म की अर्थ–मीमांसा' शीर्षक एक अन्य लेख भी यहाँ हम दे रहे हैं जो भले ही लोहिया के चिंतन से सीधे न जुड़ता हो लेकिन उस लेख का निष्कर्ष वाक्य कि 'धर्म के सामाजिक अर्थों का पुनर्विकास करना होगा' लोहिया द्वारा की गई धर्म और मिथक संबंधी व्याख्याओं की अर्थवत्ता की याद दिलाता है।

लोहिया : आधुनिकता का देशी संस्करण ?

गोपाल प्रधान

राममनोहर लोहिया का राजनीतिक जीवन आज़ादी के आंदोलन से लेकर आज़ादी के बाद के बीस वर्षों तक फैला हुआ है। मुख्य रूप से उनकी चर्चा आज़ादी के बाद की उनकी राजनीतिक कार्यवाहियों के लिए हुई। इनमें विशेष रूप से अंग्रेज़ी हटाओ और पिछड़ी जातियों की राजनीतिक दावेदारी संबंधी उनकी पहलकदमियाँ उन्हें आज भी प्रासंगिक बनाए हुए हैं।

लोहिया जी ऐसे राजनीतिकों में नहीं थे जो गुणा-गणित को ही राजनीति समझते हैं। उनके व्यावहारिक कामों के पीछे भी कोई न कोई सैद्धांतिक तर्क होता था। आज के अपने वारिसों की तरह उनके नाम इतनी संपत्ति नहीं थी कि परिवारीजन मुकदमे में फौज़दारी करें। राजनीति में पूरी तरह डूबे होने के बावजूद उन्होंने व्यापक सांस्कृतिक प्रश्नों पर भी भागीदार की तरह सोचा-विचारा। इसी कारण हिंदी साहित्य में उनके विचारों से प्रभावित लेखकों की एक लंबी कतार रही है। उनके सांस्कृतिक लेख 'भारतमाता-धरतीमाता' शीर्षक से संग्रहीत हैं। [प्रस्तुत निबंध के सारे उद्धरण उसी पुस्तक (संपादक-ओंकार शरद, प्रकाशक, लोकभारती, इलाहाबाद) के 2002 वाले संस्करण से लिए गए हैं। कोष्ठक में संख्या उद्धृत पृष्ठों की है।]

स्वतंत्रता- आंदोलन के दौरान जो विचारक सामने आए उनकी भारतीय जड़ों के साथ-साथ उनकी यूरोपीय दीक्षा पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। स्वयं लोहिया जी जवाहर लाल नेहरू की अंग्रेज़ियत पर अतिरिक्त ज़ोर देते थे। नेहरू के बरक्स लोहिया में हमें गैर-अंग्रेज़ी, खासकर जर्मन, संदर्भ प्रमुखता से दिखाई पड़ते हैं। संभवतः इसी कारण कभी मुद्राराक्षस ने नाज़ीवाद के प्रति लोहिया की सहानुभूति का कयास भी लगाया था। लेकिन संसदीय लोकतंत्र के प्रति लोहिया की अटूट आस्था हमें यह नहीं स्वीकार करने देती। लोहिया में यह आस्था उनके लिए सर्वाधिक सम्माननीय नेता महात्मा गांधी से भी बढ़कर थी। गांधी ने तो 'हिंद स्वराज' में ब्रिटिश पार्लियामेंट को 'बेसवा और बांझ' कहा है।

लोहिया के गैरब्रिटिश यूरोपीय संस्कारों के सबसे सकारात्मक फल उनकी भाषा में दिखाई पड़ते हैं। ऐसी सादा और मारक हिंदी तब शायद ही कोई लिखता-बोलता रहा हो। उदाहरण के लिए 'टाई' के लिए उनका शब्द 'गलालंगोट' याद कर सकते हैं। इस शब्द के निर्माण में मज़ाक उड़ाने का देहाती कौशल नफ़रत के साथ पूरी तरह चिपक गया है। इसी तरह से जिन नए शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया उनकी लंबी सूची बनाई जा सकती है। चुस्त किस्म के उनके वाक्य तकरीबन नारों की तरह याद हो जाते हैं। मासलन 'ज़िंदा कौमें पांच साल इंतज़ार नहीं करतीं' या 'बलात्कार और विश्वासघात को छोड़कर स्त्री-पुरुष संबंध में सब कुछ जायज़ है।'

उनके सांस्कृतिक चिंतन का विस्तार बहुत अधिक है। इसमें मिथक, भाषा, लिपि और भौगोलिक तत्व यानी पर्वत, नदियाँ और तीर्थस्थल सभी शामिल हैं। मिथकों को वे तकरीबन इतिहास के बराबर देखते हैं। वे कहते हैं, ''..... प्राचीन के भी गहरे अध्ययन की ज़रूरत है। किसी भी समय सारी दुनिया अपने अतीत का ही फल होती है। हिंदुस्तान तो मुख्य रूप से अपने अतीत का ही फल है। किसी अन्य देश का वर्तमान जीवन अपने अतीत के सिद्धांतों, स्मृतियों और पुराकथाओं से उतना ओतप्रोत नहीं है, जितना हिंदुस्तान का।'' (168) इसी कारण उन्होंने राम, कृष्ण, शिव और द्रौपदी की कथाओं का विस्तार से विवेचन किया और उसके आधार पर समकालीन जीवन की गुत्थियों को समझना-सुलझाना चाहा।

भारतीय राष्ट्र की एकता और संभव हो तो विस्तार भी— उनका सबसे प्रिय कर्तव्य था। राम और कृष्ण को उन्होंने इसी नज़रिए से देखा। लिखते हैं, ''राम हिंदुस्तान के उत्तर-दक्षिण एकता के देवता थे। कृष्ण थे पश्चिम-पूर्व एकता के। राम और कृष्ण के अनेकों और गुण थे, लेकिन एकीकरण के गुण से बढ़कर किसी का माहात्म्य नहीं है।'' (15) राष्ट्रीय एकता की ज़िम्मेदारी भारतीय जनता के उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के मुकाबले इन मिथकों को देना लोहिया के चिंतन को दयनीय रूप से सतही बना देता है। वे शिव को 'असीम मस्तिष्क', कृष्ण को 'उन्मुक्त हृदय' तथा राम को 'जीवन की मर्यादा' का रूपक बताने के बाद भारतमाता से प्रार्थना करते हैं कि 'हमें असीम मस्तिष्क और उन्मुक्त हृदय के साथ साथ जीवन की मर्यादा से रचो।'(90)

लोहिया का मानना था कि भारत के लोग 'समकालीन बातों से ज्यादा, ... अतीत की इन बातों के लेकर हँसते, रोते और झगड़ पड़ते हैं.....' (168)। इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने भारत के तत्कालीन राजनीतिक जीवन के गतिविज्ञान को समझने की कोशिश की। 1951-52 के आम चुनावों का विश्लेषण करने के लिए उन्होंने एक ढाँचा प्रस्तावित किया।उन्होंने कहा '....हिंदुस्तान के इलाके कुछ ऐसे साफ-से थे जहां ये तीनों पार्टियां जीतीं, अलग अलग, यानी कहीं पर कम्युनिष्ट नंबर दो पर रहे, कहीं पर सोशलिष्ट नंबर दो पर रहे और कहीं पर ये जनसंघ, रामराज्य परिषद वगैरह.... नंबर दो रहे।' इस भू-राजनीतिक विभाजन को वे ऊपर बताए गए मिथकों से जोड़ने के लिए प्रस्तावित करते हैं, 'दिमाग़ी साम्राज्य भी रहा करता है। विचारों का, किंवदंतियों का।' निष्कर्ष यह कि 'मोटी तौर पर शिव का इलाका वह इलाका था जहां कम्यूनिष्ट नंबर दो हुए थे, मोटी तौर पर। इसी तरह

कृष्ण का इलाका वह था, जहाँ संघ और रामराज्य परिषद वाले नंबर दो हुए थे। मोटी तौर पर राम का इलाका वह था जहाँ सोशलिष्ट नंबर दो हुए थे।' (65) तात्पर्य यह है कि शिव के असीम मस्तिष्क से प्रभावित लोगों को कम्युनिष्ट पसंद आए, कृष्ण के उन्मुक्त हृदय के पुजारियों को जनसंघी और राम की मर्यादा के प्रशंसकों को सोशलिस्ट। इस तरह के बौद्धिक नतीजे मिथकों पर अतिरिक्त ज़ोर देने की इतिहास-निषेधी पद्धति से ही पैदा होते हैं। तर्क की दृष्टि से भी ये परिणाम आत्मघाती हैं। इस आधार पर लोहिया कृष्ण के जीवन से जो कुछ सकारात्मक निकालते हैं, उसकी गंभीरता नष्ट हो जाती है। सामाजिक परिवर्तन के लिहाज़ से उनकी दो धारणाएं सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। एक पिछड़ी जातियों की राजनीतिक भागीदारी बढ़ाने की कोशिश और दूसरी, नर-नारी संबंधों में समता स्थापित करने का प्रयास। दोनों ही के लिए उन्होंने कृष्ण और कृष्णा (द्रोपदी) का उपयोग किया। अब अगर कृष्ण का दिमाग़ी साम्राज्य जनसंघियों का मददगार निकला तो इस एजेंडे का क्या होगा!

कृष्ण-कृष्णा मिथक के सहारे लोहिया जी ने अनेक बातें कहीं। एक तो दोनों के रंग को लेकर; 'कृष्ण-कृष्णा संबंध में और कुछ हो न हो, भारतीय मर्दों को श्यामा की तुलना में गोरी के प्रति अपने पक्षपात पर मनन करना चाहिए' (47) दूसरे, स्त्री-पुरुष के बीच सखा-सखी संबंध के आजीवन बने रहने की संभावना को भी उन्होंने इस संबंध में मूर्त होते देखा। 'कृष्णा-कृष्णा के सखा-सखी संबंध का ब्यौरा दुनिया में विख्यात होना चाहिए, और तफ़सील से, जिससे पुरुष-स्त्री संबंध का एक नया कमरा खुल सके।' (19) कृष्ण द्वारा पूर्व-पश्चिम को एक जगह लाने के प्रयास का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रेरक निष्कर्ष लोहिया इस मिथक से निकालते हैं। 'कृष्ण की सभी चीज़ें दो हैं। दो माँ, दो बाप, दो नगर, दो प्रेमिकाएँ, या यों कहिए अनेक। जो चीज़ संसारी अर्थ में बाद की या स्वीकृत या सामाजिक है, वह असली से भी श्रेष्ठ और अधिक प्रिय हो गयी है।' (37) मनुष्य की जन्मगत पहचान पर उसकी सामाजिक पहचान को वरीयता देने की लोहियाई चाह सचमुच आकर्षक है। कृष्ण उन्हें 'चमड़ा और नख की शारीरिक सीमा' से 'बाहर उछलने' की प्रेरणा देते प्रतीत होते हैं।' परायी को अपनी से बढ़ने देना भी तो एक मानी में अपनेपन को खत्म करना है।' (37) इसी तरह कृष्णा लोहिया जी के लिए स्त्री की तेजस्विता का साकार रूप प्रस्तुत करती है। स्त्री के साथ गैरबराबरी को लोहिया जी अमेरिका में भी चिन्हित करते हैं, जहां संपत्ति में बराबर की हकदारी के बावजूद बौद्धिक दुनिया में उसे पीछे रखा जाता है।

राष्ट्रीय एकता के विधायक तत्वों में पुराण कथाओं के बाद सबसे महत्वपूर्ण है— भाषा। यूरोपीय राष्ट्रवाद में भाषा सार्थक उपकरण रही क्योंकि कमोबेश सभी देशों की अलग भाषा थी। भारत शुरू से ही बहुभाषिक देश था। इसलिए यहां 'एक भाषा' का आदर्श नहीं चल सकता था। वैसे भी लोहिया का मुख्य ज़ोर 'अंग्रेज़ी हटाओ' पर था। उन्होंने भारतीय भाषाओं की उन्नति की राह में अंग्रेज़ी के प्रभुत्व को बाधा माना और हालाँकि हिंदी के प्रति अतिरिक्त ममता दिखाई लेकिन सभी भारतीय भाषाओं की समानता को स्वीकार किया। हिंदी के प्रति उनकी चिंता दो तरह से प्रकट हुई है। एक, तो यह कि 'कुछ लोगों पर हिंदी की पवित्रता बनाए रखने की धुन सवार है। ऐसे लोग हिंदी को बढ़ने देना नहीं

चाहते। ये लोग हिंदी का पल्ला जनेऊ और चोटीधारियों के साथ जोड़ देते हैं। इसका उपाय यह है कि 'समझदार आदमी इसकी बलिकुल परवाह नहीं करते कि भाषा की दौलत कहाँ से आकर इकट्ठी हो रही है। खाली देखते हैं कि भाषा में नये शब्द घुल-मिल गये या नहीं।' (184) इसी बात को थोड़ी देर बाद फिर दुहराया 'हिंदी को तो ऐसा बनाने की कोशिश करनी पड़ेगी कि वह नयी दुनिया की नेतागीरी के कायल हो सके। इसके लिए हिंदी को सभी भाषाओं से सीखने के लिए, अपने को बदलने के लिए और सब तरफ़ से अपनी दौलत को बढ़ाने के लिए तैयार रहना चाहिए।' (186) कहाँ तो तथ्य यह कि हिंदी देश की ही नेतागीरी नहीं कर रही थी और कहाँ यह आकांक्षा कि वह 'नयी दुनिया की नेतागीरी करने लायक' बने! बहरहाल, दूसरी चिंता उन्होंने ज़ाहिर की जो ज़्यादा विचार करने लायक है। उन्होंने कहा कि अंग्रेजी के साथ हिंदी लिखने की केंद्र सरकार की नीति से यह छवि पैदा होती है कि हिंदी स्वतंत्र भारत में वही जगह लेने जा रही है जो जगह गुलाम भारत में अंग्रेज़ी की थी। उन्होंने इसका विरोध करते हुए सुझाया कि हिंदी को अन्य भारतीय भाषाओं के साथ लिखा जाना चाहिए। हिंदी के प्रति अपने प्रत्यक्ष अनुराग के बावजूद दक्षिण भारत में उसके विरोध को देखते हुए लोहिया ने व्यावहारिक सुझाव दिया कि आगामी दस वर्षों तक केंद्र की नौकरियाँ गैर हिंदी भाषियों के लिए आरक्षित कर दी जायें और हिंदी भाषियों के संभावित विरोध का परिहार करने के लिए अपील की कि हिंदी को अपना मन बड़ा बनाना चाहिए। स्पष्ट है कि समस्या न इस तरह की व्यावहारिकता से सुलझनी थी और न ही भावुकतापूर्ण अपील से।

भाषा एक न हो सके तो लिपि ही सही। यहां लोहिया का नागरी प्रेम जरूरत से अधिक बढ़ा हुआ है। औपनिवेशिक भाषावैज्ञानिकों ने भाषा–परिवारों की धारणा के आधार पर यह दावा किया था कि भारत में पता नहीं कितने भाषा-परिवार हैं। इस मान्यता के उत्तर में भारतीय भाषाओं में ध्वनियों की या शब्दार्थ की समानता पर जोर देना तो एक हद तक समझ में आता है लेकिन भाषाओं की तरह ही लिपियों की विविधता को मन से स्वीकार न करना अनुचित है। भारत में रोमन से लेकर फ़ारसी तक अनेक लिपियां इस कंप्यूटर युग में भी मज़े से चल रही हैं। लोहिया जी ने देवनागरी लिपि के साथ जिस तरह विभिन्न लिपियों की समरूपता खींच-खांच कर दिखाने की कोशिश की वह एकताकारी से अधिक विभाजनकारी है।

लोहिया जी को अपनी प्रस्तावनाओं के विरोध का अनुमान था। इस विरोध को वे भारतीय इतिहास लेखन से निर्मित मान्यताओं से उत्पन्न बताते हैं। इस संभावित विरोध की एक हद तक खिल्ली उड़ाते हुए वे लिखते हैं..... 'एक और नारा चलता है, अनेकता में एकता का।..... अगर सारे देश के प्राथमिक स्कूलों के बच्चों के लिए एक ही रंग की वर्दी हो, तो शायद इस अनेकता में एकता को चोट पहुँचेगी। सारे देश की एक ही लिपि हो तो इससे भी शायद उसे चोट पहुँचेगी.....।' (174) भारतीय इतिहास लेखन की एक और समस्या की ओर उन्होंने इशारा किया और उसके वर्तमान परिणामों के नुकसान बताए। 'इन इतिहासकारों ने समर्पण के अवगुण को समन्वय का गुण बना दिया है।' (172) इसके वर्तमान परिणाम कुछ इस तरह सामने आते हैं, 'ऐसा इतिहास अवश्य

ही अपने पाठक और अपने शिकार को डरपोक, अधम, संकल्प और शक्ति से रहित, और शायद जड़ भी बना देता है। अपनी सीमाओं के प्रति आज के भारतीय की उदासीनता, और उसके इतिहास के लेखन में गहरा संबंध है।' (172)

यहां से लोहिया की चिंताओं का एक दूसरा फलक उजागर होता है। भारत राष्ट्र की सीमाओं की रक्षा और संभव हो तो उनमें विस्तार की चिंता। इसे भी एक सांस्कृतिक प्रतीक के ज़रिए ज़ाहिर करने के लिए उन्होंने 'हिमालय' को चुना। विश्लेषण की सुविधा के लिए उन्होंने हिमालय के एकाधिक भाग किए। 'एक तो निचला हिमालय है। वह करीब-करीब सारा हिंदुस्तान का राजकीय हिस्सा है।.... दूसरा, जो भाई हिमालय है। मध्य हिमालय का ज्यादा बड़ा हिस्सा और ऊपर वाले हिमालय का और भी आगे जाकर....। मोटे तौर पर हिन्दुस्तानी हिमालय एक करोड़ और भाई हिमालय जैसे नेपाल है, तिब्बत है, उनकी जनसंख्या दो करोड़ है।'(113) हिंदुस्तानी हिमालय में 'उर्वसीयम् जिसे आम तौर पर नेफ़ा कहा जाता है।' इस इलाके की समस्या यह है कि 'ऐसे इलाकों में ऊंचाई-निचाई का फ़र्क, बरफ़ के कारण अलगाव, बोलियाँ बहुत किस्म की है, कि इकट्ठा नहीं हो पाते।' यह समस्या सिर्फ़ हिंदुस्तानी हिमालय के साथ नहीं 'बल्कि सारे हिमालय में— भारतीय हिमालय और भाई हिमालय में— यह कमी रही है। नए ज़माने की कसौटी पर वहां लोग बँटे हुए हैं, इलाके के हिसाब से बँटे हुए हैं, बोली के हिसाब से, राज्य के गठन के हिसाब से।'(114)

भारतीय राज्य के हित को ध्यान में रखते हुए लोहिया जी चाहते हैं कि 'अगर इसे नए जमाने के लायक बनाना है तो फिर कोई न कोई दवा इस्तेमाल करनी पड़ेगी कि जिससे यह इलाका गुँथे, बँधे, एक धागे में समेटा जा सकें।'(114) नेफ़ा में भारत के प्रतिनिधि के बतौर व्यापारी, पादरी और सरकारी नौकर जाते हैं। इनमें 'सबसे ज्यादा खराब तो हैं सरकारी नौकर, क्योंकि उनके कारण से उर्वसीयम् के लोगों को हिंदुस्तान की सरकार और जनता का जो पता चला वह भाई-चारे का नहीं था, लोकनीति का नहीं था। वह नौकरशाही का था, और नौकरशाही के स्वाद से अगर कोई कौम या तबका किसी दूसरी कौम या तबके का पता चलाना चाहे, तो वह बहुत ही ग़लत और ख़राब होगा।'(116) इलाज स्वाभाविक रूप से अन्य तबकों से इन लोगों का घनिष्ठ परिचय है।

दूसरा मामला सिक्किम, भूटान आदि का है जिसे लोहिया जी भाई हिमालय में गिनते हैं। इसमें सिक्किम के बारे में उनका कहना है कि 'वह तो एक मानी में हिंदुस्तान का एक ज़िला है।' लेकिन जो ज़िला था उसे हिंदुस्तान का एक राज्य बनने में 30 साल लगे और अब भी वह दखल एक विवादित मामला है। भूटान तो स्वतंत्र देश है ही। वहाँ के बारे में लोहिया जी को शिकायत है कि चीनी लोग तो शादियाँ करके वहीं के हो जाते हैं लेकिन हिंदुस्तान का जो जाता है 'वह उनमें उनका बनकर नहीं रह सकता, उनके मन को अपनी तरफ नहीं खींच पाता।' नेपाल के मामले में उसी समय वे एक तरह से हिंदुस्तान को विदेश और पलटनी मामले अपने हाथों में लेने की सलाह देते से महसूस होते हैं और दुख के साथ कहते हैं कि हिंद-चीन के मामले में 'उसे हिंदुस्तान का साथ देना चाहिए था, जो उसने नहीं दिया'।

नेपाल के साथ संबंध ठीक रखना जरूरी है क्योंकि 'अगर नेपाल के साथ हम लोगों की नीति ठीक-ठाक रही होती और नेपालियों का मन हिंदुस्तानियों के मन के साथ मिलता और भाईचारे के धागे में बँध गया होता तो फिर भूटान और सिक्किम का मामला अपने-आप हल हो जाता। नेपाली पैदाइश का खास असर पड़ता।'(124) नेपाली लोगों को यह सब पढ़कर कैसा लगता रहा होगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। किसी भी स्वतंत्र देश के नागरिकों के प्रति ऐसे रवैये को अपमानजनक नहीं तो और क्या कहा जाए।

तिब्बत के बारे में यह कि 'अस्सी सैकड़ा वे हिंदुस्तानियों के नज़दीक हैं तो मुश्किल से 15-20 सैकड़ा वे चीनियों के नज़दीक होंगे।' प्रमाण यह कि कैलाश मानसरोवर वगैरह तिब्बत में हैं। इसलिए भारत और चीन की विभाजक रेखा कैलाश मानसरोवर के पास होनी चाहिए। यहां तक तो ठीक है लेकिन लोहिया जी सिक्यांग तक को हिंदुस्तान के करीब खींच लाते हैं। लब्बो लुआब यह कि 'यह हिमालय, निचला पूरा का पूरा और मध्य हिमालय का काफ़ी बड़ा हिंदुस्तान का अंग रहा है, राजकीय अंग रहा है, और बाकी जितना हिमालय है, तिब्बत, नेपाल जैसा, वह भाई हिमालय रहा है, चीन का उससे कोई सरोकार नहीं रहा और इसी हिमालय की रक्षा करना ताकत का सवाल है।' (136) ताकत की यह धारणा और यह विस्तारवादी मन!

लोहिया जी का मानना था कि 'इतिहास हमें वह औज़ार और मसाला प्रदान करता है, ज़िनसे मनुष्य का मन बनता है, जिसका सबसे बड़ा हिस्सा सारी दुनिया में किसी भी जगह राष्ट्रीय मन होता है।' (172) इतिहास लेखन की तकरीबन सभी धाराओं की परीक्षा करने के बाद वे जिस धारा के साथ थोड़ी उदारता बरतते हैं, वह 'पिछले दिनों की गई पुराण काल की व्याख्याएँ हैं जो 'आकर्षक' और 'मूल्यवान' हैं, क्योंकि 'ये सर्जनात्मक साहित्य भी है, पुराकथाओं की व्याख्या भी, और इतिहास की कुछ दार्शनिक या रसमय झाँकी भी।' (177) शायद लोहिया जी के लिए भारत के राष्ट्रीय मन का निर्माण करने में पुराण काल की ये व्याख्याएँ ज़्यादा उपयोगी थीं।

कुल मिलाकर लोहिया देशभक्त थे, थोड़ा अंधराष्ट्रवादी भी। लोगों ने उनकी पूजा करके उनके सही मूल्यांकन करने में बाधा पैदा की है। राष्ट्र में वे पुनर्जीवन देखना चाहते थे और इसके लिए उनका आदर्श 'शंकराचार्य या रामानुज' थे। शेष 'हर भारतीय पुनर्जीवन' को वे 'एक भ्रम मात्र' मानते थे।

वे औपनिवेशिक कब्जे से अभी-अभी आजाद हुए और विभाजन की पीड़ा भोग चुके हिंदुस्तान के 'घायल अहंकार' की क्षतिपूर्ति चाहते थे। विद्वानों ने उनकी 'नेहरू ग्रंथि' की चर्चा की है। लेकिन इसके मुकाबले 'मार्क्सवाद' और 'कम्युनिस्ट' ग्रंथि उन्हें अधिक चलाती रही है। इसी कारण भारत के अहंकार की तुष्टि के लिए वे ज्यादातर दक्षिणपंथ की ओर झुक जाते रहे हैं। उनके वारिसों ने तो नैतिकता और सादगी जैसे आदर्शवाद को छोड़कर उनके बचे खुचे महत्व को भी मटियामेट कर दिया।

लोहिया का चिंतन उस समय सत्तासीन तबकों की परिधि से बाहर छूट गये छोटे व्यापारियों और मध्यवर्ती तबकों की नुमाइंदगी करता है। यही उनकी शक्ति भी है, सीमा भी।

धर्म की अर्थ-मीमांसा

विनोद शाही

धर्म के विकल्प की तरह विचारधारा

आधुनिकता, विज्ञान और विचारधारा के रूप में मानवजाति ने, मध्यकाल से विरासत में पाये हुए धर्मों के विकल्प खोजने की कोशिश की। परन्तु जल्द ही यह बात उभर कर सामने आ गयी कि धर्म भी एक अर्थ में आधुनिक, वैज्ञानिक और विचारधारामूलक रूप वाले हो सकते हैं और एक दूसरे अर्थ में खुद आधुनिकता, विज्ञान और विचारधारा जैसी चीजें धर्म जैसी दिखायी दे सकती हैं। इस तरह जब कोई यह कहता है कि आधुनिकता, विज्ञान या अमुक विचारधारा ही मेरा धर्म है, तो वह बात धर्म-विरोधी विकल्प होने— दिखने के बावजूद, धर्म का अतिक्रमण नहीं करती। यहाँ तक कि नास्तिक, भौतिकवादी या अधार्मिक होने की बात भी, 'एक तरह के' धर्म का ही बोध कराने लगती है। इन तमाम बातों को ध्यान में रखें तो 'धर्म क्या है?'—इस बुनियादी सवाल की जड़ें, इस शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ की ओर इशारा करती नज़र आती है। वह बीज अर्थ है—'धारण करने वाली वस्तु' यानी जो चीज हमारे जीवन, व्यवहार या चेतना को धारण करती है—वही धर्म है, भले ही वह किसी स्वीकृत संस्थागत या व्यवहृत धर्म से कतई मेल न खाती हो। हालांकि इतना मौलिक या अलहदा होना एकदम मुमकिन नहीं, परन्तु इस अर्थ के सहारे धर्म अपने तमाम ऐसे अर्थों का समाहार करने वाला मालूम पड़ने लगता है— जो उसके स्वीकृत अर्थों के खिलाफ पड़ते हैं। परन्तु यहाँ सवाल पैदा होता है कि अगर धर्म का व्युत्पत्तिपरक अर्थ इतना व्यापक और जीवंत है, तो वह अपने मौजूदा अर्थों में रूढ़ कब और कैसे होता है? भारत में-खास तौर पर संस्कृत की शास्त्रीय चिंतन परंपरा में- शब्दों के व्युत्पत्तिपरक अर्थों का बड़ा महत्व रहा है। शायद इसीलिए वहाँ इतना मौलिक विकास मुमकिन हुआ है। हमारे दौर में देरिदा ने विखण्डन के लिये व्युत्पत्तियों में लौटने की वकालत की है, जिसे अनदेखा करना इतना आसान नहीं है। तो चलिये, पहले विखण्डन की राह ही पकड़ते हैं।

आधुनिक काल तक चले आते हुए, धर्म के स्वीकृत और रूढ़ अर्थों का विखण्डन करते हुए अगर उसे हम धारण करने वाली वस्तु मानते हैं, तो पहला सवाल यह पैदा होता है कि क्या धारक

'बाहर' से वस्तु के परे की दुनियां से- यानी कहीं और से आता है?- या उसे वही वस्तुएं पैदा करती हैं, जो 'धारित' हुई होती हैं? यह वह बुनियादी सवाल है, जिसने आधुनिक काल में दर्शन के आदर्शवादी और यथार्थवादी रूपों के बीच एक तरह की दुश्मनी का माहौल पैदा कर दिया है। मध्यकालीन मुहावरे वाला जो आदर्शवाद था, वह धर्म में आत्मा, परमात्मा या चेतन जैसे धारकों को 'बाहर' से लाता था, जबकि आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन से यह बात साबित हो गयी कि सभी धारक, दरअसल धारितों के द्वारा उपजाये जाते हैं। परन्तु इस व्याख्या से, पहले वाली संभावना एकदम रद्द नहीं हो गयी। वजह यह थी कि यह भी पाया गया कि धारितों के द्वारा उपजाये गये धारक, समय पाकर, एक हद तक धारितों से स्वतंत्र और कुछ हद तक खुद-मुख़्तार भी हो जाते हैं। इस तरह धारकों की एक नयी व्यवस्था की तरह धर्म, फिर से, चोर दरवाजे से, भीतर प्रवेश करता हुआ ज़िंदा हो जाता है। और वे सब जो नये धारक थे—यानी आधुनिकता, विज्ञान, विचारधारा, प्रजातंत्र, मानवाधिकार वगैरह— वे भी एक अर्थ में एक तरह के नये धर्म जैसी चीजें मालूम होने लगते हैं ।

देरिदाई विखण्डन में धर्म

आधुनिक काल के शुरुआती दौर में, ज़्यादातर मध्यकालीन धारणाएं संकटग्रस्त हो गयी थीं। मौजूदा उत्तर आधुनिक समय में यह संकट गहराया है और ये धारणाएं विखण्डनीय हो गयी हैं। धर्म की धारणा के संकटग्रस्त हो जाने पर लगता था कि जल्द ही इसका विकल्प खोज लिया जायेगा और आधुनिक मनुष्य को भविष्य में किसी धर्म की जरूरत नहीं रहेगी परन्तु अब विखण्डन के लायक होने पर एक दूसरी संभावना सामने आ गयी है। चीजें बिखर कर दोबारा जुड़ने लगती हैं। परन्तु ऐसा एकांश में होता है। धर्म के भी वही पहलू संकटग्रस्त हुए, जिनमें आधुनिकता, वैज्ञानिक और विचारधारा मूलकता के तत्त्व थे। आगे चल कर उसी पहलू का विखण्डन हुआ और वहीं अब पुनस्सृजन मुमकिन हो सकता है। परन्तु वह जो दूसरा पहलू था—धर्म का अतिरूढ़, जड़ और तर्कातीत आडम्बर था, वह इस संकट के रूबरू होते ही उल्टे और कछुआ-वृत्ति का शिकार हुआ और उसके भीतर से प्रतिक्रियावाद, पुनरुत्थानवाद और आत्मघाती फिदायीनवाद जैसी प्रवृत्तियां प्रकट हो गयीं। ऐसा धर्म को बचाने की कोशिशों की वजह से हुआ। प्रगतिशील तत्त्वों के तल पर धर्म का जो अंतर्विकास था, वह उसके इस रूढ़ और जड़ पक्ष के अनुकूल नहीं बैठता था। इसलिए रूढ़िवादियों के द्वारा धर्मसंस्थाओं पर कब्जे जमाकर, ऐसे जहरीले पुनर्विकासवादियों को भी इन संस्थाओं से खदेड़ कर बाहर का रास्ता दिखा दिया गया। कर्मकाण्डों के पालन की सख्त व्यवस्थाएं लागू की गयीं और धर्मसंस्थाओं के लिये चंदे-अनुदान देने वाले प्रतिबद्ध भक्तों या धार्मिक लोगों के समूह बढ़ा लिये गये। यहाँ से सियासत करने और सत्ता में भागीदारी करने के लिये जगह निकाली जाने लगी और धार्मिक भावों की अति-संवेदनशीलता की हिफाज़त करते हुए उसका मौका पड़ने पर भरपूर इस्तेमाल किया जाने लगा। धर्म संस्थाओं में आंतरिक बहस के लिये गुंजायश नहीं रखी गयी और न ही विविध धर्मों के आपसी संवाद और आत्मविलय या धर्मांतरण की संभावनाओं को कोई प्रोत्साहन दिया गया। यों, सामान्य जनसमुदायों के लिये ये धर्म

संस्थाएँ जनतांत्रिक लचीलेपन या खुलेपन का दिखावा करने में भी पीछे नहीं रहीं। सामान्यजन के लिये वे विश्व के सर्वाधिक उदार विचारों के प्रतिनिधि के तौर पर, लोकहित व मानवीय मूल्यों के आधार के रूप में खुद को पेश करने से कभी पीछे नहीं रहीं। शास्त्र और जीवन, सिद्धान्त और व्यवहार के बीच इन संस्थाओं ने इतनी बड़ी दूरी पैदा कर दी कि सामान्यजन के पास दो ही विकल्प बचे। या तो वे प्रतिबद्ध जड़ और रूढ़ धार्मिक व्यक्ति की तरह इन संस्थाओं की सियासत में शामिल हो जायें और महान आदर्शों के लिये आतमघाती कुर्बानियां तक करने लगें, और या फिर दूर से माथा टेककर और चंद रुपये का अंशदान देकर अपने माथा टेकने के अधिकार को महफूज़ बनाये रखने भर का काम करें। इस दूसरे विकल्प से जुड़ने वालों की तादाद में कहीं कोई कमी दिखायी नहीं देती। विविध सामाजिक अस्मिताओं या जातीय पहचानों को बनाये-बचाये रखने के जन सामान्य की दिलचस्पी इन्हें ऐसे दूर से माथा टेकने वालों की भीड़ में शामिल करने की वजह बनती है। परन्तु इसी वजह से संवेदनशील मामलों में धर्म-भावनाओं पर पहुँचने वाली ठेस के हिस्सेदार भी उन्हें होना पड़ता है—कई दफा तो न चाहते हुए मजबूरी में भी जनसामान्य की इस मजबूरी का फायदा शरारती तत्त्वों और प्रतिबद्ध धार्मिक लोगों को आसानी से मिल जाता है। फिर कई दफा दंगों या दूसरी तरह की हिंसाओं में जो सामान्यजन प्रकाशित होते हैं, उनके भीतर से कट्टर या प्रतिबद्ध धार्मिक लोगों की नयी खेप निकलती चली आती है— जो पहले से भी ज्यादा प्रतिशोध व कट्टरता से भरे होते हैं।

इस तरह हम देख सकते हैं कि हमारे समय में ईश्वर, आत्मा या चेतना जैसे शुद्ध धारकों की बजाय, धर्म के पास या तो आधुनिकता या विचारधारा जैसे नये धारक आ गये हैं और या फिर संस्था-आधारित कर्मकाण्ड या कुंठित-खण्डित इतिहास के प्रतीक नये धारकों की तरह उभरे हैं- जो धर्म का पर्याय हो गये हैं।

कर्मकाण्डों में छिपा इतिहास-बोध

यहाँ सवाल यह पैदा होता है कि धर्म अगर जन-चेतना के धारक की भूमिका निभाता है, तो वह ऐसा क्यों और कैसे कर पाता है? क्या किसी धारक के बिना जन-चेतना अपना काम करने में असमर्थ होती है? और अगर उसे धारक ही चाहिये होता है तो उसका काम शासक, कानून, शिक्षा या दूसरी गैर-धार्मिक वस्तुओं के द्वारा क्यों नहीं चलता? यानी सवाल यह है कि मनुष्य को आखिरकार ऐसा क्या चाहिए होता है कि उसकी जरूरत उसे अभी-तक धर्म जैसी वस्तु तक ले जाती रही है? और संभावित कुछ और अर्से तक भी ले जाती रहेगी, तब तक कि हम धर्म को ठीक से समझने के लायक नहीं हो जाते।

धर्म को ठीक से समझने के लिये, पहली बात तो यही समझनी होगी कि धर्म मानवजाति के पास उसके सामाजिक विकास की यात्रा के दौरान, उसके द्वारा अपनी अब तक के जैविक विकास के इतिहास की स्मृतियों को महफूज़ रखने की सजग कोशिशों के तहत पाया गया है। यानी धर्म जो बुनियादी काम

करता है, वह यह है कि इसके द्वारा मानवजाति की अटल जैविक विकास-यात्रा को सामाजिक विकास की शक्ल में ढाला और महफूज़ रखा जाता है—ताकि मानवसमाजों का उनकी जैविक-प्रकृति वाली ज़मीन से रिश्ता इस रूप में बना और बचा रहे कि जैविक प्रकृतिवाले उसके सारतत्व का भी निरंतर समांतर विकास होता रह सके। यही वह जैविक प्रकृतिगत सारतत्व है, जिसे धर्मों ने अपनी अनुभव-आधारित खोजों के द्वारा ईश्वर, आत्मा या चेतना के रूप में उपलब्ध किया है। यानी बुनियादी तौर पर धर्म जीवन-मूलक इतिहास-बोध है।

ज़ाहिर है, यह सामाजिक विकास की समझ से ताल्लुक रखने वाले इतिहास से अलग तरह की वस्तु है। परन्तु जिसे हम इतिहास के रूप में जानते-पहचानते हैं-वह मूलतः सामाजिक विकास से जुड़ा होता है। इसलिये यह जीवन-मूलक इतिहास एकदम और सामान्यतः बोधगम्य नहीं होता। बुद्धि की तर्क, विधियां जो कालक्रम के मुताबिक ही-कारण कार्य की शृंखलाओं को समझ पाती हैं, जीवन के अतल विस्तार और अकालधर्मी मालूम होने वाली जटिल सरणियों के रूबरू होकर हथियार फेंकने लगती हैं। खुद वाणी और बुद्धि भी जीवन की विराटता का अंश-मात्र होने से, उसकी समग्रता को कह या समझ पाने में पूरी तरह समर्थ नहीं होतीं इसलिये इसे सामान्य अर्थों में इतिहास कहने से गुरेज़ किया जाता है। हालांकि है यह भी एक तरह का इतिहास-बोध ही- जो तरतीबवार विकास की उपज है। पुराण या मिथक इसी इतिहास की प्रतीक अभिव्यक्तियां हैं। इस प्रतीक-पक्ष का सहारा लिये बिना किसी धर्म का गुज़ारा नहीं होता और उसकी समस्या यह भी होती है कि ये प्रतीक सब की समझ का हिस्सा बनें। तो बोधगम्य बनाने के लिये इस जीवनेतिहास की प्रतीक अभिव्यक्ति को, कर्मकाण्डों की शक्ल दे दी जाती है।

कर्मकाण्ड सभी धर्मों की ऐसी अनिवार्यता होते हैं कि अमूमन धर्म को कुछ खास कर्मकाण्डों की व्यवस्था की तरह ही पहचाना जाता है। परन्तु ये कर्मकाण्ड होते क्या हैं? कर्मकाण्ड आसानी से व्यवहार में लाये जाने वाले सामाजिक-कर्म जैसे मालूम पड़ते हैं, परन्तु गहरे में वे जीवनेतिहास की प्रतीक-गुत्थियों से जुड़े रहते हैं। कर्मकाण्डों के जरिये जीवनेतिहास की विराटता सामाजिक-व्यवहारों की शक्ल लेती है। यही विराटता उन्हें एक तरह की सनातनता या शाश्वतता प्रदान करती है, और इसीलिये उनमें लचीलेपन का अभाव पैदा हो जाता है, जो उनके अबोधमूलक दोहराव की वजह से उन्हें रूढ़ और जड़ बना देता है।

कर्मकाण्ड एक पुल की तरह होते हैं, जो जीवनेतिहास को समाजेतिहास से जोड़ने का काम करते हैं- भले ही इसमें उन्हें अधूरी ही कामयाबी मिलती है। समाजेतिहास, मुकाबलतन, ज़्यादा तेज़ गति से आगे बढ़ता है। परन्तु यहीं वह हैरत भरी घटना भी घटती है। समाजेतिहास के मुकाबले, वक्त में बहुत पीछे छूट गये मालूम होने के बावजूद, कर्मकाण्ड अपनी अर्थवत्ता को और लोगों की मानसिकता में बनी अपनी जगह को एकदम से खो नहीं देते। बेशक, ज्यादा लम्बे अर्से की चुनौतियां और सामाजिक जरूरतें इन सनातन-रूप वाले कर्मकाण्डों को थोड़ा बहुत जरूर तब्दील करती हैं और उन्हें ज़्यादा ग्राह्य व मौजू बनाने की कोशिश करती हैं। परन्तु इनका बुनियादी रूप लगभग वैसा का वैसा बना रहता है। या बुनियादी रूप इसलिये नहीं बदलता, क्योंकि इसका ताल्लुक जीवनेतिहास की जातीय स्मृतियों से

होता है। स्मृतियां बुनियादी रूप में तब्दील नहीं होती, भले ही वर्तमान की जरूरतों के मुताबिक उनकी अभिव्यक्ति के रूप में और तरीके बदल सकते हैं।

कर्मकाण्डों की आम तौर पर जो आलोचना की जाती है, उसके पीछे सामाजिक विकास के रास्ते में कर्मकाण्डों के रुकावट बनने का नज़रिया होता है। हर समाज अपने इतिहास-बोध को कसौटी बना कर तेजी से विकास करना चाहता है, परन्तु उसे धर्म और खास तौर पर धार्मिक कर्मकाण्ड पीछे की ओर खींचने वाले मालूम पड़ते हैं। कर्मकाण्डों की तार्किक या इतिहास-बोध के मुताबिक व्याख्या न कर पाने की वजह से उन्हें रूढ़ियों या अंधविश्वासों जैसी वस्तुएं मान लिया जाता है। कर्मकाण्डों से मुक्ति के लिये समाज-सुधार की लहरें भी चलायी जाती हैं। परन्तु लोकचित्त से सभी कर्मकाण्डों को निकाल बाहर करना कभी मुमकिन नहीं होता। यह अलग बात है कि उनकी सामाजिक भूमिकाएं बदल जाती हैं। वे लोग, संस्थाएं या तंत्र— जिन्हें कर्मकाण्डों से बेजा या गैर-धार्मिक फ़ायदा हो रहा होता है, उन्हें अवश्य कर्मकाण्डों का अपने हित में इस्तेमाल करने से रोक दिया जाता है। कर्मकाण्डों के बहाने से लोगों का शोषण-दोहन करने के लिये हासिल की गयी वैधता या सामाजिक स्वीकृति से उन्हें हाथ धोना पड़ता है। जैसे भक्तिकाल में खुद संतों-भक्तों के द्वारा ब्राह्मणों और मुल्लाओं के अधिकारी को उनसे वापिस लेने की कोशिश की गयी और या फिर नवजागरण काल के समाज-सुधारकों ने कानून की मदद लेकर बहुत से अप्रासंगिक हो चुके कर्मकाण्डों की वैधता को चुनौती दे डाली। परन्तु इन दोनों महान सांस्कृतिक क्रांतियों की बदौलत इतना ही हुआ कि कर्मकाण्डों पर धार्मिक प्रतिनिधियों-पुराहितों, ब्राह्मणों, मुल्लाओं आदि के एकाधिकार को तोड़ दिया गया और उनके जनमूलक या निजी इस्तेमाल के लिये रास्ता खुल सका। कर्मकाण्डों के आधार पर निर्मित सांस्कृतिक सत्तावर्चस्व का विकेंद्रीकरण इसका लक्ष्य था। परन्तु जनचित्त से कर्मकाण्डों की ज़रूरत को ही निकाल कर बाहर फेंक देने के मामले में इस सब से कोई खास प्रगति नहीं हुई। हालांकि ये दोनों सांस्कृतिक आंदोलन उसी दिशा में आगे की ओर उठाये गये कदम ज़रूर माने जा सकते हैं।

इसलिये हमारे सामने जो बुनियादी सवाल है, उसका सामना मानवजाति को देर सबेर तो करना ही होगा। सामाजिक विकास और उससे जुड़े समाजेतिहास की कसौटी पर कर्मकाण्डों को रद्द करने, उन्हें अतार्किक वस्तु बताकर अंधविश्वास-मात्र घोषित कर देने से, उनसे छुटकारा पाना मुमकिन नहीं हो सकता। जनचित्त में उनकी जो गहरी-पैठ है, उसके कारणों में उतरे बिना यह काम मुमकिन नहीं। कारण यह है कि जनचित्त को लगता है कि कर्मकाण्ड जीवन के किन्हीं गहरे सत्यों की उपज हैं और यह बात सही भी है। ज्ञान की भाषा में इसे ऊपर जीवनेतिहास की उपज बताया गया है। अगर इस बात को ठीक से आत्मसात किया जा सके, तो हम पायेंगे कि जब तक समाजेतिहास, जीवनेतिहास की गहराई से ताल्लुक रखने वाली तहजीब और तमीज़ वाला नहीं हो जाता, तब तक कर्मकाण्डों की ज़रूरत मानव समाज को किसी न किसी रूप में ज़रूर महसूस होती रहेगी।

परन्तु जीवनेतिहास की यह तहज़ीब और तमीज़ क्या है? यह वह अनुभव-बोध है जो मानवजाति को हरदम यह याद कराता है कि वह मनुष्य होने और कहलाने की हकदार तभी है, जब वह पेड़-पौधों, मछलियों और पशु-पक्षियों की तरह भी होने-जीने की जातीय स्मृति को पा ले— जैसे कि गर्भ

में वह इन तमाम पूर्व-स्थितियों से होकर गुजरती है। धार्मिक-कर्मकाण्डों वाली भाषा में इन पूर्व-स्थितियों को प्रतीक बनाकर पूजा की वस्तुओं में बदल लिया जाता है। हालांकि धर्म अपने इस पहले कर्मकाण्डीय चरण तक रुका नहीं रहता। वह आगे एक और छलांग लगाता है। वह इस सारे प्रतीक-उद्बोधन को 'बाहर की वस्तु' के रूप में देखता हुआ, इसी को दूसरे चरण पर, अंदरूनी बोध या चेतना की तरह, पुनः उपलब्ध करता है और उसे आत्मा या परमात्मा का नाम देता है। उसकी यह जो 'आत्मा' है— उसे वह सभी प्राणियों में मौजूद मानने व देखने का आग्रह करता है और यहाँ तक पहुँचता है कि 'मेरी' या 'उसकी' आत्मा में कोई भेद नहीं होता। सभी को आत्मवत देखने वाला ही दरअसल 'देखता' है। फिर प्राणियों से वह तीसरे चरण पर, कण-कण में, सभी भौतिक-प्रकृति में, सारे जड़ अस्तित्व में भी छलांग लगता है। इस तरह सारी प्रकृति के साथ एक आत्मवत रिश्ता बनाता है।

इस तरह धर्म को इन तीन चरणों वाली वस्तु की तरह देखने–समझने से हम उसके यथार्थ को पकड़ सकते हैं और तब ही उसके विकल्प को तलाशने की बात उठा सकते हैं। तो, धर्म के ये तीन चरण हैं :—

एक : इतिहासबोधक - मूलतः कर्मकाण्डीय या प्रतीकात्मक है।

दो : सामाजिक- जो अन्य मनुष्यों व सभी प्राणियों से आत्मा रिश्ता जोड़ता है और सामाजिक श्रम विधियों को 'साधनाओं' की शक्ल दिया करता है।

तीन : वैश्विक - जो साधनाओं की मंजिल है, यानी आध्यात्मिक पहलू है। यह सारी-जड़ चेतन प्रकृति के मनुष्य से रिश्तों को गढ़ता है और मूलतः भाषा-आधारित होता है। हालांकि इसकी मंज़िल मौन या भाषा का अतिक्रमण है।

इस तरह धर्म मानवजाति के लिये तीन तरह के ज्ञान के स्रोत खोलता है : एक वह ज्ञान है जो जीवन को इतिहास-बोध की तरह उपलब्ध करने से पैदा होता है। दूसरा ज्ञान वह है जो मनुष्य को दूसरे मनुष्यों व मनुष्येतर प्राणियों के साथ आत्मवत रिश्ते के अनुभव से मिलता है। और तीसरा ज्ञान, वह ज्ञान है, जो समूची प्रकृति के साथ मानवीय संवाद बनने-बनाने से जन्म लेता है-जैसे धरती माता है, तो आकाश पिता, या पवन गुरु है तो अग्नि पुरोहित। परन्तु यहाँ सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि ज्ञान के ये तीनों रूप मानव-अनुभवों के लम्बे सिलसिले का तो नतीजा हैं, पर इन्हें अभी तक बोधगम्य (तर्कपूर्ण व्यवस्था वाली) विचारधारा या विमर्श की शक्ल नहीं दी जा सकी है। अभी तक मानव के अनुभवों की दुनियां विराट मालूम पड़ती है और तमाम दर्शन, विमर्श और विचारधाराएं उसके मुकाबले में बेहद छोटी व सरलीकरण जैसे पेश करती प्रतीत होती हैं। बेशक इन विमर्शों से मानव जाति के विकास के बहुत से फ़ायदे तो मिल जाते हैं, पर वह विकास और फ़ायदे मनुष्य की गहरी (आत्मिक) भूख को शांत करने में बहुत कारगर नहीं हो पाते।

धर्म ने यह बेशकीमती खोज की है कि मनुष्य की गहरी भूख उसे एक आत्मा प्रदान किये बिना तृप्त नहीं होती। आत्मा का मतलब है- ऐसा ज्ञान, जो उसे नितान्त 'अपना' लगे और उसका वह 'अपनापन' उसके आसपास के शेष सभी 'अन्यों' की उस 'अपनेपन की भाषा' में व्याख्या कर सके।

इसे धर्म आदमी का बाकी दुनिया के साथ एकाकार होना कहते हैं। इसी के सूत्र हैं—'तत्त्वमसि' (वह तुम हो) या 'आत्मेति सः ('वह आत्मा है) या 'स नो बन्धुः' (निश्चय वह बंधु है) आदि। परन्तु इस रास्ते को पकड़ने और 'विमर्श' या 'विचारधारा' को 'आत्मा की तरह पुनर्गठित करने की हद तक अभी ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ नहीं लगता, इसलिये अतीत के जो दूसरी तरह के दार्शनिक थे- जिन्हें तर्क-बोध को छोड़ते संकोच होता था—उन्होंने दूसरा रास्ता भी खोजा था। उन्होंने वह सब जो 'अन्य' जैसा मालूम पड़ता है, उसके 'अन्य की तरह मौजूद होने' का निषेध कर दिया था। ये लोग 'शून्यवादी' कहलाये। पर हमारे दौर में अब इन दोनों रास्तों की बात बहुत मौजूं नहीं रह गयी है। ज्ञान-विज्ञान की जिन ऊँचाइयों को मानव जाति ने छू लिया है, वहाँ अब केवल 'पुनर्व्याख्या' भर की ज़रूरत रह गयी है और इस रास्ते पर चलते हुए हम धर्म के विचारधारात्मक या विमर्शात्मक विकल्प को खोजने के बहुत करीब आ गये हैं। अर्थमीमांसकों ने इधर इस पुर्नव्याख्या की संभावनाओं को टटोलना शुरू कर दिया है और इसे 'हरमेन्यूटिकल री-इंटर प्रिटेशन' का नाम दिया जाता रहा है। आइये देखें कि यह हमारी किस तरह से मदद कर सकता है।

डार्विन, मार्क्स और फ्रायड : यानी धर्म की अर्थमीमांसीय पुनर्व्याख्या

डार्विन और कार्ल मार्क्स ने, धर्म की अर्थमीमांसीय पुनर्व्याख्या के लिये भूमिका बनाने का काम किया है, हालांकि अभी इसे ठीक से समझा नहीं जा सका है। जीवन के विकास-क्रम को खोज निकालते हुए डार्विन ने 'योग्यतम के बने रहने' और विकास की वजह बनाने की बात उठायी है। परन्तु डार्विन का सिद्धान्त दो वजहों से पुनर्विचार या पुनर्व्याख्या की मांग करता है। एक यह कि वहाँ 'जीवन', का जो अर्थ है- वह मूलतः दैहिक विकास के इर्द-गिर्द घूमता है। 'योग्यतम' से डार्विन का अभिप्राय 'जीवन के सार' को खोजना नहीं था, अपितु प्रकृति और अन्य प्राणियों से चल रही ज़बरदस्त प्रतिस्पर्द्धा में मुख्यतः दैहिक योग्यता के आधार पर बचे रहकर विकास को शक्ल देने से था। यह सिद्धान्त अधूरा था। कार्ल मार्क्स तक आते-आते इसमें इतना सुधार तो मुमकिन हो गया कि विकास 'देहगत' वस्तु ही न होकर, मूलतः सामाजिक' वस्तु होता है। इस बात को साबित करने के लिए ऐसे सबूत खोज लिये गये, जो विविध प्राणि-समूहों के भीतर मौजूद किसी न किसी तरह की सामाजिक या सामूहिक आपसदारी की मौजूदगी की ओर इशारा करते थे और इसी आपसदारी की वजह से उनके वजूद को बचा लेने और उनके विकास को तय करने का आधार बनाते थे। इससे इस बात की व्याख्या हो सकी कि मनुष्य दैहिक कारणों की बजाय, एक सामाजिक प्राणी होने की वजह से, कैसे योग्यतम की कोटि मे आ सका। कार्ल मार्क्स के चिंतन में इसीलिए यह 'सामाजिकता' केन्द्र में आ जाती है, हालांकि इसे वे समाज-संरचना और समाज-तंत्र की तरह समझने पर जोर देते है।—जिससे वहाँ भी पुनर्व्याख्या की दूसरी तरह की गुंजायश पैदा हो जाती है परन्तु उसकी चर्चा थोड़ा आगे चलकर करेंगे। फ़िलहाल डार्विन के द्वारा बनायी गयी भूमिका के दूसरे पहलू को भी समझने की कोशिश करते हैं।

डार्विन की खोजों के पीछे जो चिंतन-भूमि है, उसमें मनुष्य और अन्य तमाम प्राणी-जगत के दैहिक विकास-क्रम को प्रकृति, पर्यावरण व अन्य प्राणीजगत के साथ संघर्ष के रिश्ते बनाते हुए देखा गया है। यह 'आपके' और 'दूसरे' के बीच ज़बरदस्त जद्दोजहद है, हालांकि व्यापक अर्थ में वह प्रकृति के पूरक होने की द्वन्द्वात्मक या अंतर्विरोधपूर्ण अभिव्यक्ति का एक तरीका भी हो सकता है। इस बात को आगे चलकर कार्ल मार्क्स ज्यादा गहराई से सजगता के साथ पकड़ते हैं। इस तरह हम एक संभावना तक पहुंचते हैं कि क्या प्रकृति-पूरकता और सामाजिकता के बीच कोई सांझा है? क्या इस एक के ज़रिये ही दूसरे को पाया जाता है? क्या सामाजिक होकर ही प्राणी यह जान पाता है कि प्रकृति भी उसी के समाज का हिस्सा है? और इसका उल्टा भी-कि क्या वह प्रकृति के साथ पूरक या मानवीय रिश्ते कायम करके ही समझता है कि उसकी 'आत्मा' का स्वभाव या स्वरूप सामाजिकता के साथ अनिवार्यतः बंधा है? इसलिये रहस्यदर्शियों ने, धर्म के बुनियादी रूपों को 'प्रकृति के पीछे छिपे ईश्वर' की तरह पाया और फिर उस ईश्वर को सभी की आत्माओं में 'परम-आत्मा' की तरह पिरोया हुआ देखा।

संभव है, ऊपर जिस तरह से हमने डार्विन और मार्क्स से धर्म की बुनियादी व्याख्या (या अर्थमीमांसीय पुनर्व्याख्या) में अनायास छलांग सी ले ली है— वह चौंकाने वाली और दुविधा में डालने वाली मालूम पड़े; क्योंकि जैसा कि हम जानते हैं—डार्विन और कार्ल मार्क्स धर्म के तत्कालीन तौर पर उपलब्ध, मध्यकालीन-रूपों के, सख्त आलोचक थे। इस आधार पर उन्हें धर्मविरोधी कहना-मानना तक मुमकिन है। परन्तु हकीकत यही है कि अपनी गहन और सख्त आलोचनाओं के बावजूद इन के चिंतन में धर्म की अर्थमीमांसीय पुनर्व्याख्या के लिये काफी गुंजायश है—जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे।

कार्ल मार्क्स ने मनुष्य में शेष प्राणियों के मुकाबले सर्वाधिक जटिल सामाजिक-संरचनाओं की मौजूदगी पर निगाहें टिकाई। इसका आधार मनुष्य-देह में उसके हाथों की बनावट और मनुष्य का सीधे खड़े होने का करिश्मा था। मनुष्य के हाथों के श्रम से जुड़े उत्पादन के जटिल रिश्तों के आधार पर ये सामाजिक संरचनाएं निर्मित होतीं और विकास को ठोस रूप प्रदान करती थीं। मनुष्य के अतिविकसित ज्ञान का स्रोत उसके हाथ थे, जो उसके मस्तिष्क को शेष प्राणियों के मुकाबले ज्यादा विकसित और श्रेष्ठ बनाते थे। तो, यह जो कार्ल मार्क्स की निगाह और समझ है, वह सही दिशा में उठाया गया अहम कदम है; परन्तु इससे मनुष्य-देह का जो अंतः विभाजन होता है, उसे कार्ल मार्क्स नहीं देख पाये। इस अंतः विभाजन का मतलब है कि अगर मनुष्य के हाथ और उसका दिमाग, उसकी समाजवेत्ता के असल जैविक स्रोत हैं, तो मनुष्य की शेष देह— जो अभी तक पाशव प्रवृत्तियों वाली मालूम पड़ती है— का 'सामाजिकीकरण' भी तो होना चाहिये और अगर ऐसा है तो अभी मनुष्य आधा ही सामाजिक हुआ है और उसकी मौजूदा समाज-संरचनाएँ अभी विकास की और ऊँची मंज़िलों की भूमिका भर है। इसे देखते-समझते हुए मार्क्स 'पूँजीवाद' की आलोचना करते हुए, मनुष्य की लालच और स्वार्थ की पशु-प्रवृत्तियों की मौजूदगी से सबसे ज़्यादा ख़फा दिखाई देते हैं। परन्तु फिर मनुष्य के इस समग्र सामाजिक अंतः रूपांतर का रास्ता क्या है? मार्क्स का प्रस्ताव है- वर्गविहीन समाज-संरचनाओं के द्वारा 'निर्मित चेतना' के जरिये ऐसा रूपांतर मुमकिन है। परन्तु क्या किसी 'संरचना की निर्मिति' (स्ट्रक्चरल

कंस्ट्रक्शन) से मनुष्य का जैविक रूपांतर मुमकिन है? मार्क्स इस सवाल को आधा ही हल करते हैं। वे यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि श्रम-उत्पादन पद्धतियों पर आधारित रिश्ते जिन समाज-संरचनाओं को जन्म देते हैं, वे संचनाएं जिस 'चेतना' का निर्माण करती हैं, उसकी जैविक स्थिति क्या होती है? बोध और ज्ञान (कॉग्नीशन एण्ड नॉलेज) का द्वन्द्वात्मक रूप यहां एक समस्या की तरह पड़ा रह जाता है। माओ-त्से-तुंग इस द्वन्द्वात्मक को सामाजिक यथार्थ के चेतना में बदलने के साथ-साथ, चेतना के भी यथार्थ का रूप लेने तक ले जाते हैं। परन्तु समाज और चेतना को एक-दूसरे की निर्मिति की तरह व्याख्यायित करने से चेतना और बोध और ज्ञानमूलक रूपों के जैविक या दैहिक आधार की व्याख्या नहीं होती। यानी, एक तरह से समाज और चेतना के आपसी रिश्तों में उलझ जाने से ये द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन, खुद मनुष्य और उसकी देह से जुड़े जीवन-मूलक सवालों से चूक जाते हैं। मनुष्य का सामाजिकता वाले मुहावरे में पूरा समाहार नहीं होता। यहाँ तक कि चेतना के बोध और ज्ञानमूलक दोनों रूप, 'चित्तवृत्तियों' की कोटि से आगे नहीं निकल पाते; जबकि धर्म से जुड़ी चिंतन प्रणालियों में उन्हें चित्त-दशाओं व स्थायी भाव-रूपों तक विकसित करने की कोशिश होती रही है। इस तरह धर्मों में समाज और मानव-देह के रिश्ते केन्द्र में बने रहते हैं और चेतना मानव देह की ऐसी स्थायी चित्त दशा के रूप में सामने आती है, जो तमाम पाशव चित्तवृत्तियों के सामाजिकीकरण के बाद उपलब्ध होती हैं।

धर्मों में लालच, स्वार्थ, अहंकार, ईर्ष्या, बैर आदि असामाजिक वृत्तियों के सामाजिकीकरण पर इतना ज़ोर यों ही नहीं दिया जाता रहा है। वहाँ इसीलिए तप, त्याग, दान, इंद्रिय-संयम, प्रेम और करुणा जैसे भावों को स्थायी चित्तदशाओं या संस्कारों की तरह-यानी एक ठोस दैहिक वस्तु की तरह उपलब्ध किया जाता रहा है। इसे देह की पाशव या असामाजिक वृत्तियों के सामाजिक अंतः रूपांतर की तरह देखा जा सकता है। बोध और ज्ञान चेतना के ऐसे रूप हैं, जो उपलब्ध या निर्मित होते हैं इसलिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन चेतना के निर्मित या 'कंस्ट्रक्ट' होने की बात उठाते हैं। परन्तु भाव या संस्कार ऐसी चीजें हैं—जो दैहिक हैं और टिकाऊ चित्त दशाओं की तरह मनुष्य को विरासत में मिलती हैं। दैहिक रूप में स्मृतियां ही 'इतिहास-जैविकीय' वस्तु होती हैं। जिन्हें ये भाव या संस्कार अपने सांचे में ढालते हैं। यहाँ सामाजिक इतिहास के 'कंस्ट्रक्ट' की तरह पायी गयी 'चेतना' को जीवनेतिहास के सांचों में ढालने का राज़ छिपा है।

इसका मतलब है कि कार्लमार्क्स से आगे एक और छलांग। इस छलांग के बिना धर्म की मानवचित्त में जो ज़मीन और उसकी पकड़ सदियों के विकासक्रम में जीवन का हिस्सा हो गयी है—उसका बोधमूलक विकल्प नहीं खोजा जा सकता। हमें इसके लिये चेतना के बोध और ज्ञानमूलक रूपों को, भावों व संस्कारों की तरह पुनरुपलब्ध करने की बाबत सोचना होगा। बेशक भावों व संस्कारों की व्याख्या, समाजैतिहासिक 'कंस्ट्रक्ट्स' की तरह नहीं का जा सकती, क्योंकि उनकी एक अपनी ज़मीन भी होती है, जो जीवनेतिहास के लम्बे विकास-क्रम का नतीजा है। परन्तु भावों और संस्कारों की दुनिया में प्रवेश से मानव-देह के पाशव-मूल के समग्र सामाजिकीकरण की बोधमूलक राह अवश्य खुल जायेगी। यहाँ हमें एक बात और पकड़ में आयेगी कि फ्रायड जब चित्तवृत्तियों के सामाजिकीकरण की

बात उठाते हैं, तो वे पाशव प्रवृत्तियों की ऐसी अभिव्यक्ति की बात करते हैं—जिन्हें दमन के जरिये कुण्ठा में तब्दील नहीं होना पड़ता। फ्रायड यहाँ केवल सामाजिक व्यवस्था के साथ तालमेल बिठाने भर की बात करते हैं- वे 'रूपांतर' वाली गहराई को छूने से साफ बचकर निकल जाते हैं। कार्ल मार्क्स सामाजिक रूपांतर के ज़रिये अंतः रूपांतर की संभावना तो खोलते हैं, पर बात चेतना की निर्मितियों तक आकर अटक जाती है। कार्लमार्क्स भी जिस वर्ग विभाजित समाज से वर्गविहीन समाज की संरचना की ओर आगे बढ़ते हैं, वह भी समाज के सामूहिक चित्त के अचेतन अंधेरों में प्रवेश नहीं करता। इस अचेतन में प्रवेश की राह मनुष्य-देह में से होकर ही निकलती है। बेशक श्रम-व्यवहार ही उसमें प्रवेश की कुंजियां हैं, परन्तु देह की श्रम-सामर्थ्य तो अपार है। समाज-संरचनाएं जितनी गहरी होती हैं—उतनी ही इस सामर्थ्य का उपयोग करती हैं। यही विकास का वास्तविक द्वन्द्वात्मक तरीका है- जिसके एक ध्रुव पर मानवदेह है और दूसरे पर उसकी सामाजिकता, मध्यकाल में मानवदेह से चेतना तक पहुँचने का रास्ता खोला गया था, आधुनिक काल में सामाजिकता की चेतनामूलक निर्मितियों का राज़ खुला है। इन दोनों को अब एक-दूसरे का पूरक होना है।

भावों और संस्कारों पर कार्य करते हुए समाज के समूहिक अचेतन में उतरने का क्या अर्थ है? यहाँ दरअसल हम एक ऐसे महान, विराट और मानवीय सामाजिक रूपांतर की ज़रूरत का सवाल खड़ा करते हैं, जो मानवदेह और चित्त की प्रवृत्तियों को प्रेम, दया, शांति, करुणा, त्याग, संतोष, विनम्रता, निर्मोह, सत्य और अहिंसा आदि के पक्ष में रूपांतरित होने के लिये ज़मीन मुहैया करा दे। यहाँ हमें ऐसे सामाजिक रूपांतर की दरकार है जो मानवदेह व चित्त की तमाम पाशव वृत्तियों का सामाजिकीकरण करने की ठोस ज़रूरत पैदा करे जो इस दोहरे रूपांतर की मंज़िल होगी।

फ्रायड हमें बताते हैं कि मानवचित्त के अचेतन अंधेरों में पाशव-वृत्तियों का निवास है और मानवदेह की भी जो सहज या प्राकृतिक व्यवहार-कृति है- वह भी आत्मरक्षा और परहिंसा से लेकर भय, निद्रा, भूख, मैथुन आदि की ज़रूरतों को पूरा करना चाहती है। अब आत्म-भाव का सवाल उठाएं। आत्मभाव का मतलब है-वह जो अपना-सा लगता है, जिसे करते हुए हम खुद को खुद हुआ मानते हैं। इसलिये आरंभिक तौर पर तो हम मनुष्यों के लिये यही पाशव वृत्तियां और व्यवहार 'आत्म-भाव' की तरह होते हैं। परन्तु इन्हीं की गहराई में उतरें। हिंसा, भूख या मैथुन जैसी वृत्तियां गहरे में दूसरे को 'अपने में समा लेने' या अपना बना लेने के भाव से पैदा होती हैं। फिर खोज गहरा जाती है। हिंसा से, किसी को खाकर या किसी के साथ मैथुन करके हम उस 'दूसरे' को किस रूप में, किन अंशों में, 'आत्म' में 'आत्मसात' करते हैं? और किन अंशों-रूपों में दूसरों के द्वारा अपने आत्म के आत्मसातीकरण को रोकना चाहते हैं? अब ये सवाल हमें हमारी 'सामाजिकता' तक ले जाते हैं— हमारे श्रम-व्यवहारों तक, उत्पादनों के बंटवारे तक और वर्ग एवं श्रम विभाजन तक। इस तरह एक समाज व्यवस्था या संरचना हमारी 'आत्मा' की शक्ल में हमारे भीतर विकास करने लगती है। परन्तु परिपूर्ण आत्मभाव के लिये हमें इन तमाम श्रम और वर्ग विभाजनों से निजात पानी होती है। विभाजन मिट जाने पर जो वर्गविहीन समाज हम बनाना चाहते हैं— उसकी कसौटी भी इसी 'आत्मभाव' के रूप में आती है। ठीक से देखें तो आत्मभाव का असल काम ही वर्गविहीन समाज के निर्माण के बाद शुरू होता है।

हमें वहाँ पहुँचना होता है, जहाँ हमारे से अन्य दूसरे जितने मनुष्य और प्राणी हैं, वे सब हमें आत्म-रूप में उपलब्ध हों। इस तरह वर्गविहीन समाजों में आत्मभाव के अग्रविकास की आगे से आगे नयी मंज़िलें या नये चरण प्रकट होते जाते हैं। धर्म के रहस्यदर्शियों ने इन चरणों का अनुमान भर लगाया है। जैसे, जैनों, बौद्धों और वेदांतियों ने कुछ नाम हमारे सामने रखे-आत्मा, सर्वात्मा, सूत्रात्मा और परमात्मा आदि। ये सब दरअसल उत्तरोत्तर अधिकाधिक गहरे सामाजिक रूपांतरों के द्वारा पायी जाने वाली जीवनेतिहासिक चेतनाओं के विविध नाम हैं।

अब हम धर्म के मुख्य अंग कर्मकाण्ड के यानी फिर से समझते हैं। जब तक 'आत्मभाव' एक 'सामाजिक यथार्थ' की तरह उपलब्ध न हो, तब तक आत्मसात होने लायक तमाम चीजों को प्रतीक बनाकर कर्मकाण्डों की तरह दोहराते चले जाने जाने की ज़रूरत पड़ती है। देवता को चढ़ाये गये फूल, फल मिष्टान्न आदि 'अपने' न रहकर 'सब में बांट दिये जाने लायक' हो जाते हैं। ऐसे ही प्राकृतिक श्रम-व्यवहार हैं, जो मनुष्य को समस्त प्रकृति, सारे ब्रह्माण्ड के साथ एक-रूप होने का अनुभव देते हैं। तो आप सूरज को चल चढ़ाते हैं, आकाश में ध्यान लगाकर उसमें गुम होना चाहते हैं, कोई शब्द या मंत्र बोलकर दूसरों के अचेतन में आत्मवत प्रवेश कर वहाँ अपनी रहने लायक जगह बनाना चाहते हैं—तो ये सब साधना पद्धतियाँ हैं, जो प्रतीक रूप में आत्मभाव को उपलब्ध करने की स्मृति हमारे भीतर जगाये रखती हैं। इस तरह हम पूरे 'इतिहास, 'प्रकृति' और 'प्राणीजगत' या 'समाज' के साथ एकाकार होने के लिए जरूरी सामाजिक-रूपांतर की ही दिशा में एक कदम आगे बढ़ाया करते हैं। परन्तु चूंकि मानव समाज में कर्मकाण्डों और साधनाओं के बुनियादी अर्थों का बोध लुप्त हो गया है—इसलिये यही कर्मकाण्ड हमारे सामाजिक विकास और रूपांतर का रास्ता रोकने वाले और उखाड़ दिये जाने लायक प्रतिरोधक भी बन जाते हैं।

इसलिये मेरा मानना यह है कि मानव जाति को अब कर्मकाण्डों को धर्मों की जागीर मान बैठने की विवशता को तोड़ना होगा। उनके सामाजिक अर्थों का पुनर्विकास करना होगा और इस तरह धीरे-धीरे धर्मों की मूल जमीन को ही, उनके पैरों तले से खींच लेना होगा। इस दिशा में एक कदम ही ठीक से उठ सका, तो भविष्य में धर्मों की कोई खास भूमिका बनी-बची रहने की उम्मीद हमें छोड़ ही देनी चाहिए।

यहाँ से देखो

मध्यकालीन इतिहास और साहित्य के अध्येताओं में हिंदी के भक्ति-काव्य को अनेक कोणों से जाँचने-परखने का जो उत्साह देखा जाता है, वह हमारी समाज-दृष्टि को माँजते जाने में फलीभूत हो, तभी सार्थक है। कबीर पर एक बहुत ही विचारोत्तेजक किताब इन दिनों चर्चा में है-'अकथ कहानी प्रेम की'-जो पुरुषोत्तम अग्रवाल के गहन अध्ययन और शोध-दृष्टि का प्रमाण है। लेकिन एक 'अकथ कहानी कबीर-द्रोह की' भी हमारी परंपरा में रही है, जो बताती है कि कबीर का आत्मसातीकरण भी कबीर के विरोधियों की ही एक चाल रही। इस कहानी से हमारा वस्तुपरक परिचय करा रहे हैं-मैनेजर पांडेय।

निर्गुण-सगुण विवाद को भी आज एक अधिक प्रखर इतिहास-बोध के दायरे में लाने की ज़रूरत महसूस की जा रही है। यह केवल ब्रह्म के स्वरूप-निर्धारण का आध्यात्मिक मसला न था। इसके भौतिक आधार भी थे, जिनके विवेचन का काम अभी कम हुआ है। इस काम को आगे बढ़ाने की ज़िम्मेदारी किस तरह निभाई जा सकती है, इसकी एक मिसाल के तौर पर यहाँ 'टाइलर' का लेख विशेष दृष्टव्य है।

कबीर का आत्मसातीकरण

मैनेजर पाण्डेय

रेमंड विलियम्स ने ठीक ही लिखा है कि हर समय में प्रभुत्वशाली संस्कृति अपने विरोधी और वैकल्पिक विचारों, अर्थों, मूल्यों अनुभवों और व्यवहारों को आत्मसात करने की कोशिश करती है। आत्मसात करने की क्रिया एक व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया का हिस्सा है, जिसका एक लक्ष्य है सांस्कृतिक वर्चस्व की स्थापना।

आत्मसातीकरण का साहित्य के संदर्भ में अर्थ है— किसी पाठ, उसमें मौजूद दुनिया, उसके अभिप्राय, उसकी अर्थवत्ता और सार्थकता को अपनाना, अपना बनाना, ले लेना, चुराना, अपने अधिकार में करना, हथियाना और हड़पना। आत्मसातीकरण के अनेक तरीके हो सकते हैं, उन तरीकों के अभिप्राय और उद्देश्य भी अनेक प्रकार के होते हैं। आत्मसातीकरण की प्रक्रिया मूलगामी होती है और प्रतिगामी भी, इसीलिए आत्मसातीकरण पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना ज़रूरी है कि वह क्यों और कैसे संचालित हो रहा है। इसके साथ ही आत्मसातीकरण की प्रक्रिया के प्रसंग में आत्मसात करने वाली चेतना और उसके उद्देश्यों को भी समझना आवश्यक है।

भारतीय समाज, संस्कृति और विचारों के इतिहास में पहले से चली आती हुई प्रभुत्वशाली संस्कृति की वैदिक–पौराणिक परंपरा, विरोधी विचारों का सामना करने के लिए एक सुनिश्चित पद्धति का प्रयोग करती रही है, जिसकी चार अवस्थाएँ है- उपेक्षा, विरोध, विकृति और आत्मसातीकरण। इस पद्धति के अनुसार किसी विरोधी विचार या विचारधारा की पहले उपेक्षा की जाती है। अगर उपेक्षा से वह विचार या विचारधारा समाप्त नहीं होती तो फिर उसका विरोध किया जाता है। अगर विरोधी विचारधारा उपेक्षा और विरोध का प्रतिरोध करती हुई जीवित रहती है तो उसको विकृत करके पेश करने का प्रयत्न किया जाता। अगर कोई विचार या विचारधारा उपेक्षा विरोध या विकृति की प्रक्रियाओं का सामना करती हुई भी जीवित रहती है तो फिर उसके मूलगामी स्वरूप और परिवर्तनकारी धार को कुंद करके उसे आत्मसात करने की कोशिश होती है। भारतीय ज्ञान की परंपरा में चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि

दर्शन और कबीर जैसे संतकवि वैदिक और पौराणिक परंपरा द्वारा उपेक्षा, विरोध, विकृति और आत्मसातीकरण की प्रक्रिया के शिकार हुए हैं।

भक्ति आंदोलन के साथ जो मूलगामी दार्शनिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक प्रक्रिया तथा चेतना निर्मित हुई और उसकी जो अभिव्यक्ति सामने आई, उसके उत्तर भारत में प्रवर्तक कबीर थे। इसीलिए वे वैदिक-पौराणिक परंपरा के वर्चस्व के लिए एक चुनौती बन गए। वैसे तो कबीर को आत्मसात करने के प्रयास एक ओर वेस्टकाट, फर्ककुहर, जार्ज ग्रियर्सन, विल्सन आदि की ओर से हुए तो दूसरी ओर अब्दुलहक देहलवी, मोहसिन काजी और सरदार जाफ़री की ओर से भी। यूरोपीय विद्वानों ने कबीर में ईसाइयत की खोज की तो दूसरे समूह के विद्वानों ने सूफ़ी मत की। लेकिन कबीर मुख्य चुनौती बने थे वैदिक पौराणिक परंपरा, उसके सांस्कृतिक वर्चस्व और उस पर आधारित हिंदू समाज की संरचना के लिए। इसीलिए कबीर को अपनी संस्कृति और परंपरा में समाहित करने की सबसे अधिक कोशिशें वैदिक और पौराणिक परंपरा के समर्थकों की ओर से हुई हैं।

कबीर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व और विचारों को वैदिक-पौराणिक परंपरा में आत्मसात करके उनको हिंदू समाज की वर्ण व्यवस्था के अनुकूल बनाने का एक प्रयास 'भक्तमाल' की टीकाओं में दिखाई देता है। नाभादास ने 'भक्तमाल' की रचना 1585 से 1609 की बीच की थी। 'भक्तमाल' उत्तर भारत के भक्तिकाव्य का विश्वकोश है। उसमें हिंदी के प्रमुख भक्त कवियों के व्यक्तित्व और विचारधारा का सटीक बखान है। उसकी लोकप्रियता का अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि हिंदी में सत्रहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के बीच अनेक 'भक्तमालों' की रचना हुई और नाभादास के 'भक्तमाल' की टीकाएँ भी लिखी गईं। अब तक 'भक्तमाल' की बीस से अधिक टीकाएँ मिलती हैं। नाभादास के 'भक्तमाल' की लोकप्रियता का एक पक्ष यह भी है कि उसका अनुकरण करते हुए उत्तर भारत की अनेक भाषाओं में भक्तमालों की रचना हुई है।

नाभादास ने 'भक्तमाल' में कबीर के बारे में जो छप्पय लिखा है, उसमें कबीर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व और विचारधारा की सभी बुनियादी बातें मौज़ूद हैं। वह छप्पय इस प्रकार है :

भक्तिविमुख जो धर्म सुसब अधरमकरि गाये।
योग यज्ञ व्रत दान भजन बिन तुच्छ दिखाये।।
हिंदु तुरकप्रमाण रमेंनी सबदी साखी।
पक्षपात नहिं वचन सबनके हितकी भाखी।।
आरुढ़ दसा है जगतपर, मुख देखी नाहिंन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रण षटदर्शनी।।60।।

कबीर के आधुनिक सहृदय आलोचकों ने उनके क्रांतिकारी व्यक्तित्व और विचारों के बारे में जो कुछ विस्तार से लिखा है, वह सब मूल रूप से नाभादास के छंद में मौजूद है।

'भक्तमाल' की पहली टीका प्रियादास ने 1712 ई. में लिखी थी। उस टीका में कबीर द्वारा रामानंद के शिष्य बनने की बात है और कबीर के अनेक चमत्कारपूर्ण कार्यों का भी वर्णन है। एक

तरह से कबीर को मिथक बनाने की पहली कोशिश प्रियादास की टीका में ही हुई है। इस टीका में सिकन्दर लोदी द्वारा कबीर पर अत्याचार करने और बाद में परास्त होकर उनका भक्त बनने की बात भी है। इसके साथ ही मृत्यु के बाद कबीर की लाश के फूलों में बदलने की बात भी इसी टीका में है। नाभादास के छंद में कबीर के व्यक्तित्व और विचारों की जिन विशेषताओं का उल्लेख है, उनमें से किसी की व्याख्या प्रियादास की टीका में नहीं है। इस टीका में जो कुछ कहा गया है उससे टीकाकार की विचारधारा तो सामने आती है, पर कबीर की नहीं। जो लोग भारत की टीका-परंपरा के विचारधारात्मक पक्ष से परिचित हैं, उन्हें प्रियादास की टीका की विचारधारा को समझने में बहुत कठिनाई नहीं होगी।

प्रियादास की टीका में आत्मसातीकरण की प्रवृत्ति कबीर से भी अधिक रैदास के प्रसंग में दिखाई देती है। प्रियादास के अनुसार रैदास पूर्व जन्म के ब्रह्मण थे। वे इस जन्म में चमार जाति के होने के बावजूद अंतर्मन से ब्रह्मण ही थे क्योंकि उनकी चमड़ी के भीतर जनेऊ मौजूद था। टीका की यह प्रवृत्ति केवल हिंदी तक सीमित नहीं है। आलवार भक्त कवि शठकोपण, जिन्हें नाम्मालवार भी कहा जाता है, वे भी शूद्र जाति के थे। उनके बारे में भी बाद में टीकाकारों ने यह लिखा कि शूद्र के घर में पैदा होने के बावजूद उन्होंने न तो माँ का दूध पिया, न विवाह किया और न अपना पेशा अपनाया। इस तरह उन्हें जाति की पहचान के लिए जरूरी सभी बातों से मुक्त घोषित कर दिया गया। इससे यह भी जाहिर होता है कि जो संत और भक्त कवि जाति व्यवस्था को अस्वीकार करते थे उन्हें भी जाति व्यवस्था के भीतर समेटने की कोशिश टीका परंपरा में हुई है। 'भक्तमाल' के कवि नाभादास के बारे में कहा जाता है कि वे डोम जाति के थे, लेकिन उन्नीसवीं सदी के अंत में 'भक्तमाल' की 'भक्ति-सुधास्वादतिलकटीका' लिखने वाले रूपकला जी ने नाभादास जी के जाति के बारे में तरह-तरह की कल्पनाएँ करते हुए उन्हें डोम मानने से इन्कार किया है।

भक्ति आन्दोलन की एक बड़ी सांस्कृतिक उपलब्धि है—भारत के विभिन्न क्षेत्रों की जनता की मातृभाषाओं का रचनात्मक उत्थान और उनमें काव्य-रचना का अपूर्व विकास। दक्षिण के आलवार भक्तों से लेकर कश्मीर के ललद्यद और असम के शंकरदेव से हिंदी के कबीर आदि तक देशभर के पुरुष और स्त्री भक्त कवि अपनी मातृभाषा के कवि थे। यह एक तरह से संस्कृत के वर्चस्व से लोकभाषाओं की स्वतंत्रता का आंदोलन भी था जिसके कारण लोक प्रतिभा की मुक्ति संभव हुई। इस मुक्ति के कारण ही भारतीय साहित्य के लंबे इतिहास में कवि के रूप में प्रायः अनुपस्थित, अदृश्य और मौन दलितों तथा स्त्रियों की रचनात्मक प्रतिभा का विस्फोट भक्ति आंदोलन के काव्य में दिखाई देता है और साथ ही उनकी सहज तथा शक्तिशाली आत्माभिव्यक्ति सामने आती है। अगर भक्ति आंदोलन के साथ मातृभाषाओं में कविता रचने की प्रवृत्ति का विकास नहीं होता तो दलित और स्त्रियाँ कवि के रूप में भारतीय समाज के सामने नहीं आ पाते। उस समय भारतीय समाज में दो भाषाओं का वर्चस्व था। ज्ञान और रचना की भाषा संस्कृत थी और सत्ता की भाषा फ़ारसी। दलितों और स्त्रियों को संस्कृत में बोलने और लिखने की स्वतंत्रता न थी और फ़ारसी तक उनकी पहुंच ही नहीं थी। संस्कृत के नाटकों में स्त्रियों और शूद्रों-दासों को संवाद बोलने की स्वतंत्रता नहीं थी। उन्हें प्राकृत में संवाद

बोलना पड़ता था। ऐसी स्थिति में संस्कृत और फ़ारसी में स्त्रियों और शूद्रों की काव्य-रचना कैसे संभव होती। एक ओर स्त्री और पुरुष भक्त कवियों ने अपनी-अपनी मातृभाषाओं में कविता लिखकर संस्कृत के आतंक से मुक्ति पाई तो दूसरी ओर सूफी कवियों ने लोकभाषाओं में कविता लिखकर आम जनता को फ़ारसी के आतंक से मुक्त किया।

लोकभाषाओं की संस्कृत से स्वतंत्रता केवल एक भाषा से मातृभाषाओं की स्वतंत्रता न थी। संस्कृत केवल एक भाषा नहीं थी। वह अभिजात संस्कृति, उसकी संवेदना, उसकी विश्वदृष्टि और उससे निर्मित सामाजिक संरचना के पोषण तथा संरक्षण का माध्यम भी थी। यही नहीं, वह वैदिक पौराणिक परंपरा और वर्णाश्रम व्यवस्था के वर्चस्व का साधन भी थी। संस्कृत से लोकभाषाओं की स्वतंत्रता लोकमन और लोकमत की स्वतंत्रता बन गई।

संस्कृत से लोकभाषाओं की स्वतंत्रता सरलता से और सहज रूप में प्राप्त नहीं हुई। उसके लिए भक्त कवियों को कठिन संघर्ष करना पड़ा। संस्कृत के वर्चस्व से अपनी मातृभाषाओं की मुक्ति का मार्ग जिन कवियों ने बनाया, उनमें मराठी के महान सन्त और भक्त ज्ञानेश्वर का नाम सबसे पहले आता है। वे एक प्रकार से इस मुक्ति आन्दोलन के नेता हैं। उन्होंने मराठी में गीता की टीका लिखी जिसे 'ज्ञानेश्वरी' कहा जाता है। 'ज्ञानेश्वरी' के तीसरे अध्याय में ज्ञानेश्वर के अर्जुन कृष्ण से कहते हैं कि आप मुझे गूढ़ सिद्धांत बता रहे हैं पर मुझे धोखा दे रहे हैं, आपके वचन मेरी समझ में नहीं आते इसलिए गूढ़ बचन न बोलिए और जो विवेक है उसे मराठी भाषा में कहिए। मूल मराठी में ज्ञानेश्वर के अर्जुन का कथन इस प्रकार है—

ना तरि झांकवीतु आहासि मातें। किं तत्व चि कथिलें ध्वनितें।
हें अवगमितां निरुतें। जाणवे ना।।
ह्माणौनि आइकैं देवा। हा भावार्थु आतां न बोलावा।
मज विवेकु तो सांघावा। मन्हाटा जी।।

ज्ञानेश्वर का जन्म 1275 ई. में हुआ था। तेरहवीं शताब्दी के इस सन्त कवि ने अर्जुन के माध्यम से ईश्वर से यह मांग की है कि वह मनुष्यों की भाषा मराठी बोले न कि देववाणी संस्कृत। ज्ञानेश्वर की यह मांग भारतीय भाषाओं के इतिहास की सबसे क्रांतिकारी मांग है। उन्होंने 'ज्ञानेश्वरी' के आगे के अध्यायों छः, सात, नौ और बारह में मराठी की श्रेष्ठता, महत्व और सौन्दर्य का प्रतिपादन भी किया है। उन्होंने संस्कृत से मराठी की तुलना करते हुए लिखा है कि—

दाउं वेल्हाल देशी नवी।
जैसी साहित्यातें वोजावी।
अम ताई चूकि ठेवी।
गोडिसेपणें।।

(यह कथा प्रेम से, देशी शब्दों में कहूँगा, जो साहित्य को व्यवस्थित मार्ग दिखायेगी। यह अमृत को भी अपनी मधुरता से पछाड़ देगी।)

ज्ञानेश्वर का यह कथन पूरी तरह सच साबित हुआ। 'ज्ञानेश्वरी' की लोकप्रियता के आगे देववाणी में लिखे अधिकांश ग्रंथ फीके पड़ गए। ज्ञानेश्वर यह सब जान-बूझकर एक क्रांतिकारी अभियान के तहत कह रहे थे। उन्होंने दसवें अध्याय में एक जगह लिखा है—

माझा महाठाचि बोलु कवतिकें।
परि अम तातेंही पैजेंसी जींके।
ऐसीं अक्षरेंचि रसिकें मेलवीन।।

(मेरी मराठी भाषा प्रेम से बोलो। यह अमृत से भी शर्त लगाने पर जीत जाएगी। ऐसे अक्षर मैं रसिकों के लिए एकत्र करूँगा।)

यहाँ मैं भारतीय या हिन्दू ज्ञान-परम्परा में मौजूद एक पाखण्ड की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। 'ज्ञानेश्वरी' के दो अनुवाद मेरे सामने हैं। एक हिंदी अनुवाद जो साहित्य अकादमी से 1996 ई. में छपा है, अनुवादक हैं मोरेश्वर गणेश तपस्वी। दूसरा अनुवाद अंग्रेज़ी में है जो भारतीय विद्या भवन से छपा है, जिसका तीसरा संस्करण 2001 ई. का है, अनुवादक हैं एम.आर. यार्डी। दोनों अनुवादों की एक विशेषता यह है कि उनमें 'ज्ञानेश्वरी' के तीसरे अध्याय की सत्रहवीं ओबी का जो अनुवाद है उसमें मराठी शब्द गायब कर दिया गया है। ज्ञानेश्वर के अर्जुन कृष्ण से कहते हैं कि आप मराठी में विवेक की बातें कहिए जबकि हिंदी अनुवाद में लिखा है कि ''विवेक क्या है कहिए सुगम भाषा में'' और अंग्रेजी अनुवाद में लिखा है कि ''अपने विचार सरल भाषा में कहिए''। इन दोनों अनुवादों में मूल से जो अंतर है, वह संस्कृत के प्रति अंध आस्था की ही देन है। ऐसा लगता है कि उस अंध आस्था ने सच कहने के साहस को मार दिया है। यह सब करने के बावजूद दोनों अनुवादकों ने अपने अनुवादों की भूमिकाओं में ज्ञानेश्वर का बहुत गुणगान किया है। व्यक्ति की पूजा और विचार की हत्या की यह प्रवृत्ति भारतीय ज्ञान परम्परा की एक जानी पहचानी विशेषता है।

संस्कृत के वर्चस्व से लोकभाषाओं के संघर्ष की यह प्रक्रिया ज्ञानेश्वर के साथ समाप्त नहीं होती। उनके तीन सदी बाद के महान मराठी संत कवि एकनाथ ने अपनी रचना 'चतुः श्लोकी भागवत' की प्रस्तावना के अनेक छन्दों में संस्कृत से मराठी की तुलना करते हुए मराठी के महत्व का प्रतिपादन किया है—

संस्कृत ग्रंथकर्ते ते महाकवि। मा प्राकृतीं काय उणावी।
नवी जुनी म्हणावीं। कैसेनि केवीं सुवर्णसुमनें।।

(संस्कृत ग्रंथकर्ता महाकवि हैं, तो प्राकृत कवियों में क्या न्यूनता है?
सुवर्ण सुमनों में नए-पुराने का भेद कैसे किया जाए।)

जे पाविजे संस्कृत अर्थे। तेंचि लाभे प्राकृते।।
तरी न मनावया येथें। विषमचि तें कायीं।।

(जो संस्कृत में अर्थ मिलता है, वही लोकभाषा में मिलता है। तो फिर इनमें भिन्नता क्या माननी है?)

संस्कृतवाणी देवें केली। परि प्राकृत काय चोरा पासोनि झली।
असोतु या अभिमान भुली। वृथा बोलीं काय काज।।

(संस्कृत वाणी ईश्वर ने बनाई, वह देववाणी है, तो प्राकृत क्या चोरों के पास से आई है, यह तब मिथ्याभिमान है। वृथा बोलने से क्या लाभ है?)

महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर और एकनाथ ने सचेत रूप से संस्कृत की संस्कृति के विरुद्ध जो अभियान चलाया, उसे तुकाराम ने अपनी कविता के माध्यम से सहज रूप से आगे बढ़ाया। तुकाराम जाति के कुनबी थे इसलिए वे संस्कृत के वर्चस्व से उस तरह नहीं लड़ सकते थे जैसे ब्राह्मण ज्ञानेश्वर और एकनाथ लड़ सकते थे। इन तीनों की कविता के मानवतावाद और लोकप्रियता से ब्राह्मण चिढ़े। इन सभी महाकवियों को अपनी क्रांतिकारी चेतना और समतावादी दृष्टि का मूल्य चुकाना पड़ा। ब्राह्मणों ने उन्हें आत्महत्या के लिए मजबूर किया। ज्ञानेश्वर को इक्कीस वर्ष की आयु में ही जीवित समाधि लेनी पड़ी। एकनाथ ने जल समाधि ली और तुकाराम भी नदी में डूबकर ही मरे। इन तीनों ही स्थितियों को देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि उनका संघर्ष कितना कठिन था और बलिदान कितना महत्वपूर्ण।

हिन्दी क्षेत्र में इस संघर्ष को आगे बढ़ाने का काम कबीर ने किया। वे संस्कृत के सामाजिक आधार, सांस्कृतिक प्रयोजन और विचाराधारात्मक प्रभाव से परिचित थे। उन्होंने संस्कृत की संस्कृति से जनभाषा की संस्कृति का अंतर स्पष्ट करते हुए कहा था कि—

संस्कीरत है कूपजल, भाषा बहता नीर।

कबीर के समय में संभवतः ऐसे लोगों की भरमार थी, जो संस्कृत पढ़ लेने के कारण स्वयं को ज्ञानी समझते थे, लेकिन उनमें मानवोचित गुणों का अभाव था। इसीलिए कबीर ने संस्कृत पढ़कर ज्ञानी होने का दंभ पालने वालों पर व्यंग्य करते हुए कहा था—

संस्कीरत भाषा पढ़ि लीन्हा, ज्ञानी लोक कहो री।
आसा तृस्ना में बहि गयो सजनी, काम के ताप सहोरी।
मान-मनीकी मटुकी सिर पर, नाहक बोझ मरो री
मटुकी पटक मिलो पीतम से, साहेब कबीर कहो री।

ऐसे कबीर को वैदिक-पौराणिक परंपरा के अनुकूल बनाने और उन्हें प्रभुत्वशाली संस्कृति की धारा में आत्मसात करने के लिए उनके व्यक्तित्व, विचार और कविताओं का बड़े पैमाने पर संस्कृतीकरण किया गया है। यह काम कबीर पंथ के लोगों ने भी किया है। कबीर की रचनाओं का संस्कृत में अनुवाद हुआ है और संस्कृत में उनकी टीकाएँ तथा व्याख्याएँ भी लिखी गई हैं। कबीर के संस्कृतीकरण के फलस्वरूप एक ओर 'दश मात्रा', 'कबीर शतकम' और 'ब्रह्मनिरूपण' आदि

पुस्तकें लिखी गई हैं तो दूसरी ओर बीजक की स्वामी हनुमानदास ने 'स्वानुभूति' नामक व्याख्या संस्कृत में लिखी है, जो 1936 ई. में प्रकाशित हुई।

कबीर के व्यक्तित्व और विचारों के संस्कृतीकरण का अब तक का सबसे बड़ा सुनियोजित प्रयास 'कबीर वाणी' नाम की पुस्तक में दिखाई देता है। 'कबीर वाणी' का दो खंडों में प्रकाशन लाल बहादुर शास्त्री केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली से हुआ है। यह किसी बोधानन्द या बोधन द्वारा कबीर की कविताओं की संस्कृत में टीका है और साथ में हिंदी भावार्थ भी दिया गया है। ध्यान देने की बात यह है कि हिंदी भावार्थ कबीर की कविताओं का नहीं संस्कृत टीका का है। 'कबीर वाणी' के संपादक और हिंदी भावार्थ लिखने वाले हरिहर द्विवेदी के अनुसार बोधानन्द की संस्कृत टीका या व्याख्या की कोई मूल प्रति उपलब्ध नहीं है, केवल उसकी विष्णु नामक किसी चितपावन ब्राह्मण की 1877 ई. की एक प्रतिलिपि प्राप्त हुई है। इस प्रसंग में एक प्रश्न यह है कि कबीर की कविताओं की संस्कृत टीका लिखने वाले बोधानंद कौन थे? हरिहर द्विवेदी ने लिखा है कि बोधानंद के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। फिर भी उन्होंने अनुमान किया है कि बोधानन्द कबीर के शिष्य थे और उनके समकालीन भी। लेकिन 'भक्तमाल' में बोधानन्द नामक के किसी कबीर के शिष्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता। बहुत संभव है कि बोधानन्द की संस्कृत टीका उन्नीसवीं सदी में लिखी गई हो। क्योंकि उन्नीसवीं सदी में ही कबीर के आत्मसातीकरण की विभिन्न प्रक्रियाएँ तेज होती दिखाई देती हैं और साथ ही कबीर को हिंदू धर्म तथा दर्शन के अनुकूल बनाने की कोशिशें भी।

कबीर की कविताओं की बोधानन्द ने संस्कृत में जो व्याख्या लिखी है उसमें कबीर को सृष्टि के प्रवर्तक, श्रुतियों के प्रतिपादक, सर्वव्यापी परमात्मा से अभिन्न माना गया है । कबीर की कविताओं में वेदों, उपनिषदों, पुराणों और स्मृतियों के विचारों की खोज करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि कबीर ने अपनी कविताओं में इन सबको प्रमाण माना है।

बोधानन्द ने कबीर के नाम की जो व्याख्या की है, उससे उनका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। 'कबीर वाणी' के पहले खंड में रमैनियों की व्याख्या करते हुए बोधानंद ने कबीर नाम का अर्थ किया है वेद, वेद और धीर, वशिष्ट आदि महर्षि, श्रीकृष्ण, शास्त्र आदि और दूसरे खंड में साखियों की व्याख्या के प्रसंग में कबीर का अर्थ है ब्रह्म, श्रुति, शास्त्रज्ञ और कर्मकांडी इत्यादि।

कबीर पोथीनिष्ठ ज्ञान के विरुद्ध थे, वे कागद लेखी के बदले आखिन देखी के महत्व को स्वीकार करते थे। वे शास्त्र-ज्ञान पर निर्भरता के बदले अनुभव से प्राप्त ज्ञान की बात करते थे। बोधानन्द ने साखी का अर्थ किसी दूसरे की कही बात, श्रुति और स्मृति के वाक्यों को प्रमाण मानना घोषित किया है। कबीर ने एक दोहे में साखी का महत्व स्पष्ट करते हुए लिखा है :

साखी लाये जतन करि, इत-उत अच्छर काट
कह कबीर कब लग जिये, जूठी पत्तल चाट

पाठक स्वयं ही यह तय करें कि वे साखी के बारे में कबीर के इस कथन को स्वीकार करेंगे या बोधानन्द द्वारा की गई साखी की व्याख्या को।

बोधानन्द की व्याख्या में कबीर की कविता के अर्थ के चमत्कारों की भरमार है। उदाहरण के लिए एक चमत्कार की चर्चा पर्याप्त होगी। कबीर ने अपनी भाषा के बारे में एक साखी लिखी है जो इस प्रकार है :

बोली हमरी पूर्व की, हमें लखे नहिं कोय।
हमें लखे सो जना जो, धुर पूर्वीआ होय।।

एक तो इस साखी में लोकप्रचलित साखी का पाठ बदल दिया गया है। लोक में प्रचलित साखी इस रूप में में है:

बोली हमरी पूरवी, हमें लखे नहिं कोय।
हमको तो सोई लखे, जो धुर पूरबिया होय।।

कबीर अपनी मातृभाषा भोजपुरी के कवि हैं। उनकी लोक प्रचलित साखी भोजपुरी में है। लेकिन जो साखी बोधानन्द की व्याख्या वाली कबीर वाणी में है वह खड़ी बोली की छाप लिए हुए है। महत्व की बात यह है कि बोधानन्द ने इस साखी की व्याख्या करते हुए पूर्व का अर्थ किया है 'तत्वमसि'। कबीर के अनेक दोहों में पूर्व या पूरब का अर्थ दिशा 'सूचक है। आप कबीर के दो-तीन दोहे देखिए जो इस प्रकार हैं :

आगि जो लगि समुद महँ, जरे जो काँदो झारि।
पूर्व पछिम के पंडिता, मुए विचार विचारि।।
एक और साखी देखिए :
पूर्व उगे पश्चिम विशवे भखे पवन को फूल।
ताको काल गरासे मानुष काहे भूल।।

बोधानन्द ने कबीर को आत्मसात करने के लिए उनकी कविताओं का जो संस्कृतीकरण किया है, उसमें कबीर के व्यक्तित्व और उनकी कविता की ऐतिहासिकता का विनाश हुआ है, उनकी कविताओं में मौजूद सूफी प्रभाव और इस्लाम की कट्टरता की आलोचना का भी बहिष्कार किया गया है। कबीर ने बार-बार वेद और कुरान को एक साथ रखकर दोनों की जो आलोचना की है, वह भी बोधानन्द की व्याख्या से गायब है। सबसे अधिक चिंता की बात यह है कि बोधानंद की व्याख्या में कबीर एक सहृदय कवि के रूप में नहीं, नीरस दार्शनिक के रूप में सामने आते हैं। इस तरह उनका अपूर्व काव्यत्व समाप्त हो गया है। इस बात के प्रमाण के लिए कबीर का एक दोहा और उसकी बोधानन्द की व्याख्या को देख लेना पर्याप्त होगा। कबीर का एक प्रसिद्ध दोहा है :

विरह बाण जेहि लागिया, ओषधि लगे न ताहि।
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जिवे, उठे कराहि कराहि।।

अब इस दोहे की बोधानन्द द्वारा की गई व्याख्या का हिंदी रूप देखिए--''तीव्र वैराग्य से संसार का दोष जानकर उसका परित्याग करने वाला व्यक्ति विरह-बाण से विद्ध है और अष्टांग योग आदि

कोई भी औषधि उसे स्वस्थ नहीं कर सकती। उसके लिए तो केवल एक ही औषध है, केवल यह विचार कि 'मैं आत्मा ही हूँ। उसकी प्राप्ति के अभाव में ऐसा व्यक्ति पश्चाताप करे, यह स्वाभाविक ही है।''

नाभादास ने कहा था कि कबीर ने वर्णाश्रम और षटदर्शनी की सीमाओं को नहीं माना, लेकिन बोधानन्द ने कबीर को वर्णाश्रम और षटदर्शन का समर्थक सिद्ध किया है। कबीर के विचार चार्वाक और बौद्ध दर्शन के विचारों से मिलते जुलते हैं, लेकिन बोधानन्द ने कबीर को आस्तिक दर्शनों के अनुकूल बनाया है। कबीर ने लिखा था कि ''आ भूले षटदर्शन भाई, पाखंड वेस रहा लपटाई'. इस दोहे की व्याख्या करते हुए बोधानन्द ने केवल जैन दर्शन को भ्रांत कहा है। कबीर को ब्रह्मवादी बनाने के लिए रूपकवाद का सहारा लिया गया है। रूपकवाद प्रायः ऐतिहासिकता और यथार्थवाद का विरोधी होता है, वह रहस्यवाद की ओर ले जाता है। कबीर की ऐतिहासिक पहचान और सामाजिक भूमिका को धूमिल करते हुए उनके मिथकीकरण का प्रयास बोधानन्द की टीका में दिखाई देता है।

मध्यकालीन भक्ति-सम्प्रदायों के टकरावों का भौतिक आधार

टाइलर वाकर विलियम्स

भक्ति आंदोलन के प्रारंभिक काल (अर्थात् लगभग 1400ई. से 1605ई. तक) में प्रमुख भक्त कवि न तो अलग-अलग संम्प्रदायों के संदर्भ में लिख रहे थे और न ही किसी खास संप्रदाय के दृष्टिकोण या सिद्धान्त को अभिव्यक्ति दे रहे थे। हालांकि कुछ कवि ईश्वर के निर्गुण या सगुण स्वरूप और निर्गुण या सगुण साधना पद्धति पर अपने विचार प्रकट करते थे। लेकिन ऐसा नहीं लगता है कि वे सचेत रूप से किसी सीमांकित 'निर्गुण' या 'सगुण' परपरा के संदर्भ में बोल रहे थे या ऐसी किसी परंपरा के दृष्टिकोण को अभिव्यक्त कर रहे थे।

लगभग 1650ई. तक अलग-अलग संप्रदाय सभी कवियों की रचनाओं का समावेश अपने पद संग्रहों में कर रहे थे— इसका सीधा अर्थ है कि इन संप्रदायों के अनुयायी संत्सग के संदर्भ में सभी गीत गाते थे। इस व्यवहार के पीछे कोई उदारता नहीं, बल्कि एक विशेष नीति थी। इस नीति के अनुसार संप्रदाय अधिक से अधिक भक्त कवियों का—और उनके साथ उनकी लोकप्रियता तथा समाजिक आधार पर भी—कब्जा रखने की कोशिश करते थे।

1650 ई. के आस-पास यह नीति बदलने लगी थी। ज्यादातर संप्रदाय विभिन्न परंपराओं के बीच भेद करने लगे और अपने पद-संग्रहों तथा सत्संगों में कुछ कवियों को चुनकर अन्य का बहिष्कार करने लगे। इस दौर में इन संप्रदायों में तथाकथित 'निर्गुण' और 'सगुण' कवियों की रचनाएं एक साथ रखने और गाने की परंपरा का क्षरण होने लगा, लेकिन उपलब्ध संग्रहों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि इन संप्रदायों के बाहर यह पंरपरा अभी भी पूरी तरह से खत्म नहीं हुई। इसका मतलब यह नहीं कि इसके साथ अपने आप में एकीकृत दो निर्गुण और सगुण परंपराओं के बीच द्वंद्व होने लगा। सगुण संग्रहकार रामभक्त और कृष्णभक्त कवियों के बीच भी भेद करने लगे थे।

1650ई. के आस-पास इस नीति में ऐसा परिर्वतन क्यों हुआ? इस दौर में संप्रदाय 'निर्गुण' और 'सगुण' परंपराओं तथा कवियों के बीच भेद क्यों करने लगी? 1650ई. से पहले 'निर्गुण' और

'सगुण' परंपराओं तथा अस्मिताओं के बीच जो 'तरलता' और अनिश्चितता थी वह इस समय तक आते-आते क्यों खत्म होने लगती है और क्यों उनके स्थान पर स्पष्ट निश्चित और अनुल्लंघनीय अस्मिताएं स्थापित हो जाती हैं?

हम यहां पर पद-संग्रहों के अलावा ऐसे कुछ और तौर-तरीकों के बारे में बात कर सकते हैं, जिन्हें अपनाकर विभिन्न संप्रदाय अपनी सांप्रदायिक अस्मिता निर्मित करने की प्रक्रिया में 'निर्गुण' और 'सगुण' परंपराओं के बीच भेद करने लगे और इस विभाजन की सीमाओं के अनुकूल विचारधारा, सामाजिक व्यवहार और राज्य सत्ता के साथ संबंधों के अनुसार दो अलग-अलग नीतियां और परंपराएं दिखाई देने लगीं। इस नए दौर में संप्रदाय के संदर्भ में रचना करते हुए कुछ कवि सचेत रूप से निर्गुण या सगुण दृष्टिकोण और अस्मिता को अभिव्यक्ति देने लगे। इसके साथ ही वे अन्य सांप्रदायिक विचारकों के साथ अपने संप्रदाय के सिद्धान्त निर्माण में निर्गुण-सगुण भेद की अवधरणा का प्रयोग करने लगे। जहां प्रारंभिक काल के कवि किसी संप्रदाय विशेष के सिद्धान्त को अभिव्यक्त नहीं कर रहे थे उसके ठीक विपरीत इस दौर के कवि और साधक प्रकट रूप से सांप्रदायिक सिद्धान्त के निर्माण और प्रसार का प्रयास कर रहे थे और इस प्रक्रिया में वे 'सगुण' और 'निर्गुण' कोटियों का प्रयोग कर रहे थे। जाहिर है कि इस समय विभिन्न संप्रदाय अपने उपलब्ध विमर्शपरक उपकरणों के अनुसार अलग-अलग ढंग की 'प्रमाणपरक रणनीति' (डिस्कर्सिव स्ट्रेटजी) अपना रहे थे। निर्गुण साधकों के पास कुछ विशेष उपकरण थे और 'सगुण' साधकों के पास कुछ दूसरे; इसलिए इस समय अलग-अलग निर्गुण-सगुण परंपराओं के आविर्भाव के साथ-साथ दो अलग-अलग प्रमाणपरक रणनीतियों का भी आविर्भाव हुआ। इस बात से संभवतः यह निष्कर्ष भी निकलता है कि ये दो अलग-अलग परंपराएं अलग-अलग सामाजिक समुदायों या वर्गों को लक्ष्य कर रही थीं। परन्तु हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए, जैसा कि वसुधा डालमिया ने मध्यकालीन उत्तर भरत के विभिन्न भक्ति संप्रदायों की आपसी प्रतिद्वंद्विता के सन्दर्भ में लिखा है— ''.....अनेक संप्रदायों के झुंड में प्रतिद्वंद्विता अक्सर इसीलिए बहुत प्रबल होती थी क्योंकि उन संप्रदायों के उपदेश एक दूसरे से ज्यादा भिन्न नहीं होते थे और उनके श्रोता समान समाजों से आते थे।''[1] अतः कभी-कभी सबसे ज्यादा मिलते-जुलते संप्रदायों के बीच सबसे तीखी प्रतिद्वंद्विता होती थी। मोटे तौर पर इस दौर में दो अलग-अलग परंपराएं दिखने लगती हैं, जिनकी अपनी अलग-अलग प्रमाणपरक रणनीतियां हैं और जो राज्यसत्ता के साथ अपने अलग-अलग किस्म के संबन्ध भी रखती हैं। निश्चित रूप से इन दोनों परंपराओं से जुड़े हुए संप्रदाय सत्ता की खोज में थे, परन्तु राज्यसत्ता के प्रति वे अलग-अलग किस्म के दृष्टिकोण तथा व्यवहार अपनाते थे। इस प्रकार लगभग 1600ई. के बाद विभिन्न संप्रदाय निर्गुण और सगुण परंपराओं के बीच भेद करते हुए किसी एक से अपनी अस्मिता जोड़ने लगे। वे उस परंपरा में उपलब्ध विमर्शपरक उपकरणों का प्रयोग करते हुए अलग-अलग ढंग से अपने सामाजिक आधार के विस्तार और राज्यसत्ता के साथ संबन्ध स्थापित करने का प्रयास भी कर रहे थे।

भक्ति–संप्रदायों की आपसी प्रतिद्वंद्विता

मध्यकालीन भक्ति संप्रदायों के वैचारिक विमर्श और धार्मिक साहित्य के सन्दर्भ में निर्गुण-सगुण भेद केवल दार्शनिक या वैचारिक मतभेद का मामला नहीं था— वह संप्रदाय की सामाजिक विचारधारा का महत्वपूर्ण पहलू भी हुआ करता था, जिसके अनुसार ये संप्रदाय अन्य संप्रदायों तथा धार्मिक-राजनीतिक-समाजिक शक्तियों को हरा कर अपने सामाजिक आधार का विस्तार करने और विभिन्न प्रकार के 'संसाधनों' पर कब्जा करने की कोशिश करते थे। अतः हमें 1600ई. के बाद निर्गुण-सगुण भेद के आविर्भाव को सिर्फ वैचारिक संघर्ष के रूप में नहीं बल्कि उपरोक्त प्रतिद्वंद्विता के सन्दर्भ में एक विचारधारात्मक रणनीतिक उपकरण के रूप में देखना चाहिए। रामानंदी संप्रदाय पर लिखते हुए रिचर्ड बर्गहार्ट ने मध्यकालीन उत्तर भारत में भक्ति संप्रदायों के बीच इस प्रतिद्वंद्विता की भौतिकवादी व्याख्या की है :

> ''अपनी अलग-अलग हिस्सों में बंटी हुई संरचना के साथ रामानंदी संप्रदाय और शेष हिन्दू साधू संप्रदाय हमें अनेक 'ट्राइब्स' के रूप में दिखाई देते हैं, जो ऐसे अलग-अलग हिस्सों में बंटे हुए वंशों से बनते हैं, जो यौनिक प्रजनन से नहीं बल्कि आध्यात्मिक दीक्षा से अपने आप को बनाए रखे हुए थे और जो प्राकृतिक संपत्ति के लिए नहीं बल्कि भिक्षा के लिए क्षेत्र का 'शोषण' करते थे। लंबे समय तक अपने संप्रदाय को बनाए रखने के लिए विभिन्न हिन्दू संप्रदाय तीन जरूरी साधनों पर कब्जा करते थे : शिष्य तथा अनुयायी, तीर्थस्थान तथा तीर्थ यात्राओं के रास्ते और राजनीतिक आश्रय। इन संसाधनों की उपलब्धता कम थी। हालांकि कुछ संप्रदाय दक्षिण एशिया के सीमावर्ती क्षेत्रों में स्थापित हुए, परन्तु लगभग सभी आखिर में गंगा के मैदानों में फैल गए, जहां संप्रदायों की संख्या इतनी ज्यादा थी कि इन तीन सीमित संसाधनों के लिए प्रतिद्वंद्विता बहुत तीव्र थी।''[2]

पिछले 25 सालों में कुछ अन्य विद्वानों- पिंच, वान डेर वीर, चंद्र, बजरंग बिहारी तिवारी, कॉन इत्यादि- ने इन संसाधनों में कुछ और संसाधन जोड़ दिये हैं : जमीन, लगान या मालगुजारी के रूप में अनाज अथवा पैसा, व्यापार के रास्तों पर शुल्क इत्यादि। खैर, वर्गहार्ट का मुख्य प्रस्ताव है कि संप्रदाय की धार्मिक-सामाजिक विचारधारा को इन संसाधनों पर कब्जा करने की रणनीति के एक हिस्से के रूप में समझना चाहिए। वे उदाहरण देते हैं कि गैर द्विज जाति, दलित, नारी और मुसलमानों को अपने संप्रदाय का सदस्य बनाने के चलते रामानंदी संप्रदाय एक संसाधन। शिष्य तथा अनुयायी की खोज में अन्य संप्रदायों से काफी आगे बढ़ गया। इस प्रकार इन वंचित तबकों से अनुयायी शामिल

करने की रामानंदी संप्रदाय की 'उदारचित्त' नीति, भौतिक संसाधनों से संबंधित हितों की विचारधारात्मक अभिव्यक्ति थी। इसलिए संप्रदायों के वैचारिक विमर्श में निर्गुण-सगुण विभाजन की अवधारणा के निर्माण को परखते समय इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि इन संसाधनों को लक्ष्य करके संप्रदाय क्यों और किस तरह से निर्गुण या सगुण अवधारणाओं का प्रयोग करते हुए ऐसी अस्मिताएं अपनाते थे?

उपरोक्त संसाधनों को लेकर आपसी प्रतिद्वंदिता में किसी संप्रदाय को किसी वास्तविक या कल्पित 'निर्गुण' या 'सगुण' परंपरा में जोड़ने से क्या फायदा था?

'निर्गुण' संप्रदाय : सिद्धांत में कठोरता और व्यवहार में उदारता

जिन्हें हम आज 'निर्गुणी संप्रदाय मानते हैं, वे 1600ई. के बाद अपने विशिष्ट धार्मिक सिद्धांत तथा साधना प्रणाली का निर्माण करते हुए 'निर्गुण' परंपरा से अपनी अस्मिता और विचारधारा को जोड़ने लगे। जाहिर है कि वे अपने संभावित अनुयायियों के सामने अपने सिद्धांत तथा विचारधारा की अनन्यता तथा सर्वश्रेष्ठता दिखाने के लिए और उसे सीमांकित करने के लिए दूसरे संप्रदायों से अपने आप को भिन्न दिखाने की कोशिश करते थे; अतः ये संप्रदाय अनुमानित 'सगुण' परंपरा से जुड़े हुए संप्रदायों से अपनी भिन्नता घोषित करते थे। इस प्रकार इस दौर में इन संप्रदायों ने एक व्यवस्थित 'निर्गुण' सिद्धान्त और साधना प्रणाली बनाने की कोशिश की और 'सगुण' परंपरा के बरक्स 'निर्गुण' परंपरा का निर्माण किया।

इन संप्रदायों के साहित्य में यह प्रयास स्वरूप और वस्तु दोनों स्तरों पर दिखाई देता है। स्वरूप को लेकर हम देखते हैं कि 1600ई. के बाद ये संप्रदाय पद-संग्रहों के अलावा ऐसे दूसरे ग्रन्थ भी बनाने लगे जिनमें वे बहुत व्यवस्थित ढंग से अपने सिद्धान्त और साधना प्रणाली का प्रतिपादन करते थे। आमतौर पर रचनाकार अपनी परंपरा के कवियों तथा गुरुओं की कविताओं को चुनकर नए विन्यास, संरचना या शैली के संदर्भ में उनका प्रयोग करते थे। अक्सर वे उपदेशात्मक शैली या गुरु-शिष्य गोष्ठी के संदर्भ में इन कविताओं को प्रस्तुत करते थे। वे इस तरह से कबीर, रविदास, सुन्दरदास, स्वामी रामचरण इत्यादि कवियों की कविताओं को उनके मूल संदर्भ-गीत से अलग कर उनको व्यवस्थित सांप्रदायिक सिद्धान्त का रूप दे देते थे। यह परिघटना ग्रन्थ HSS 2106(चंद्रपन ग्रन्थ) 3970, 3712, 3703, 3515/7, 2274, 2195, RORIJOD 17947,15744, 15966(2), 16273(2), 15755(3), NPS 1977भ, 2445/12, RORI JAI 11877(11) में देखी जा सकती है। इन ग्रन्थों में कबीर, धर्मदास, रविदास, सुन्दरदास, स्वामी रामचरण, स्वामी प्राणनाथ तथा कुछ अन्य कम प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं के हिस्से, संवाद, उपदेश तथा योग या साधना की शिक्षा के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। यहाँ पर सभी ग्रन्थों की विस्तृत चर्चा करना संभव नहीं है, लेकिन कुछ उदाहरणों से काम चलाया जा सकता है।

ग्रंथ संख्या HSS 3703 'ज्ञान समुद्र' (पुष्पिका संख्या 1835) में सुन्दरदास के कुछ दोहे, छप्पय, सोरठे आदि किसी अनाम शिष्य से उनके संवाद के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में सुन्दरदास की रचनाएं निर्गुण और सगुण भक्ति के अंतर तथा साधना के विभिन्न प्रकारों पर अत्यंत व्यवस्थित व्याख्यानों के रूप में प्रस्तुत की गई हैं, जिसमें शिष्य सुन्दरदास से मांग करता है कि वे क्रमानुसार सभी श्रेणियों की भक्ति को व्याख्यायित करें और सुन्दरदास धैर्य पूर्वक सही क्रम में सभी प्रकार की भक्ति की व्याख्या करते हैं। इस संवाद में विभिन्न छंदों के विलक्षण और अव्यवस्थित विन्यास को देखकर यह प्रतीत होता है कि सुन्दरदास के सभी पद संवाद के ढांचे में आसानी से नहीं आ सके हैं; स्पष्ट रूप से प्रवाह और तर्क-संगति को बनाए रखने के लिए रचनाकार ने सुन्दरदास के नाम पर कुछ पंक्तियां स्वयं रची हैं। लेकिन कुल मिलाकर सुन्दरदास के मुंह से एक संगठित निर्गुणवादी सिद्धांत पर प्रवचन दिलवाने का रचनाकार का प्रयास काफी हद तक सफल रहा है। उदाहरण के लिए संवाद के एक अंश को देखें-

शिष्य उवाच

श्रवण प्रभु कौन सों कहिये, कीरतन कौन विधि लहिये।
अरु स्मरण कौन कह दीजे, चरण सेवा सु क्यों कीजे।।
अर्चना कौन विधि होई, वन्दना कहो गुरु साई।
दास्य सख्यत्व पहचानूँ, निवेदन आत्मा जानूँ।।
एक एक का भेव, मोहि अनुक्रम से कहो।
तुम कृपालु गुरुदेव, पूछत विलग न मानियो।।

श्रीगुरुवाचन

शिष तोहि कहूँ श्रुति वानी, सब संतन साखि बखानी।
दो रूप ब्रह्म के जाने, निर्गुण और सगुण पिछाने।।
निर्गुण निज रूप नियारा, पुनि सगुण सत अवतारा।।
निर्गुण की भक्ति सुमन से, संतन की मन अरु तन से।।
एकाग्रह चित्त जु राखे, हरि गुन सुन रस चाखे।
पुनि सुने संत के बैना, यह श्रवण भक्ति मन चैना।।

इस प्रकार सुन्दरदास के गाने योग्य एक पद को संवाद शैली में सैद्धांतिक विमर्श का रूप दे दिया गया है। इस संदर्भ में कवि की काव्यात्मक संवेदना में जो अनिश्चितता और 'खेल' (प्ले) होते हैं, वे खत्म हो जाते हैं और उसके शब्दों का एक निश्चित सैद्धांतिक अर्थ बन जाता है। इसके साथ ही कविता का प्रदर्शन-संदर्भ भी बदल जाता है : कीर्तन या भजन के रूप में इसे गाने की बजाय यहाँ सुन्दरदास की कविता 'गोष्ठी' या 'कथा' के रूप में प्रदर्शित की जा रही है। कविता को गीत के रूप में और गोष्ठी या कथा के रूप में प्रदर्शित करने के बीच बड़ा अंतर है। यह अंतर सामाजिक संदर्भ

का अंतर हैं। दादू पंथ के हस्तलिखित ग्रन्थों की परंपरा पर लिखते हुए मोनिका हॉर्स्टमान ने दादू के बारे में जनगोपाल की 'दादू जन्म-लीला' से ये पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

अम्बनेरी स्वांमी आये राजा परजा कई मनि भाये।
निसदीना भीरा होइ दरबारा कथा कीरतन ज्ञान बिचारा।।

•••

बहुत भांति भोजन करवायो कथा कीरतनु अति सुष पायौ।

•••

मिले नराइंनदास रु स्वांमी मानूं प्रगटे अंतरजांनी।
कथा कीरतन घोष्टि कीनीं थोड़े हीं में सब लषि लीनीं।[3]

इन पंक्तियों में चर्चित 'कथा', 'कीर्तन' और 'घोष्टि' के प्रदर्शन के बारे में हॉर्स्टमान ने लिखा है कि-

> ''यहाँ फिर से कथा और कीर्तन दोनों एक साथ आते हैं, गोष्ठी (संवाद) के साथ। इनके साथ एक और पारिभाषिक शब्द '(गुरु) उपदेसौ' (गुरु से प्राप्त शिक्षा) जोड़ा जा सकता है, जो इस विमर्शपरक कार्य का भी एक हिस्सा है। जबकि 'घोष्टि' और 'उपदेश' ज्यादा निजी हैं और कम 'सार्वजनिक' तथा दोनों के लिए कम से कम संवादकर्ताओं की जरूरत होती है। 'कथा' को गुरु श्रोताओं के सामने प्रदर्शित करता है और कीर्तन पूरा समुदाय गाता है। कथा को संवादात्मक रूप चाहिए, कीर्तन को संगीतात्मक रूप।।''[4]

जबकि गाए जाने वाले पद के रूप में भक्त कवि सुंदरदास की कविता किसी भी भक्त द्वारा गायी जा सकती थी, वहीं संवाद, गोष्ठी या कथा के रूप में वह सिर्फ पंथ के नेतृत्वकर्ता वर्ग द्वारा ही प्रदर्शित की जा सकती थी। इस प्रकार संप्रदाय के संदर्भ में उसका स्वामी वर्ग कविता को सिद्धांत रूप देने की प्रक्रिया को नियंत्रित करता था।

रामसनेही संप्रदाय के संदर्भ में भी यह परिघटना दिखाई देती है। ग्रन्थ HSS 2106 'अमृत उपदेश' (पुष्पिका संख्या 1844) में, स्वामी रामचरण के पद एक अनाम शिष्य को दिए हुए उपदेशों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं—

> 8।। *सिषबचन।। चौपाई।।* इम्रत ग्यांन कहो क्रिपाला।। जातैं मिटें जहर की ज्याला।।
> पी पी जहर मरै संसारा।। सरणि तुम्हारै होइ उबारा।।

9।। बिखिया भोग गर लये देवा।। सो मैं अचये बिनि ही भेवा।।
आप ताय ये मेरी हूरो।। जहर मिटाइ इम्रंत सूंभरो।।

10।। *गुर बचन*।। अब सुन सिष इम्रं की बाता।। जातैं मिटै जहर की घाता।।
इंम्रत नाम अषक उवारा।। जन पीवै इंम्रत की धारा।।
11।। सो इम्रंत तुम पीवो भाई।। जातैं जहर लहर मिट जाई।।
सो इंम्रत संकर नित पीवै। जहर जोर मिटि जुग जुगि जीवै।।
12।। और कहूं प्रहलाद कबीरा।। अनंत कौटि जन अमर सरीरा।।

विशेषरूप से रामसनेही संप्रदाय के स्वामी रामचरण के जो ग्रन्थ मिलते हैं, वे निर्गुण साधना के 'मैनुअल' या शिक्षा पत्र के रूप में हैं : उदाहरण के तौर पर, HSS 1515/8 स्वामी रामचरण के 'लक्ष्य, अलक्ष्य योग विचार' (पुष्पिका संख्या 1846) में अलग-अलग प्रकार के योग और साधना व्यवस्थित क्रम में दिए गए हैं। HSS 397 'संत-पचासिका' (पुष्पिका संख्या 1883) में स्वामी रामचरण के पद इस तरह से विषय के अनुसार रखे गए हैं कि यह ग्रन्थ निर्गुणवादी दर्शन का 'मैनुअल' जैसा लगता है। स्वामी रामचरण भक्ति कविता के अलावा दर्शन और साधना प्रणाली पर लिखते थे-हालांकि इस साहित्य का स्वरूप पद्य है परन्तु वह 'साहित्यिक' नहीं है, उसका सीधा मकसद है उपदेश और आध्यात्मिक शिक्षा। (यहाँ पर अरस्तू के कथन की याद आती है कि इतिहास को पद्य का रूप देने से वह कविता नहीं बन जाता।) मिसाल के तौर पर HSS 2915 'समता निवास' (पुष्पिका संख्या 1852) में स्वामी रामचरण ने नौ अध्यायों में ईश्वर, गुरु विशेष प्रकार के योग, साधना, व्रत और कुछ विशिष्ट सामाजिक व्यवहारों पर भी लिखा है, जैसे सत्संग, कुसंग, रोग इत्यादि। हमारे लिए यह बात विशेषतौर पर दिलचस्प है कि स्वामी रामचरण ऐसे विशिष्ट व्यवहारों-व्रत, योग, सत्संग इत्यादि के बारे में उपदेश देर रहे थे, इस तरह वे अपने ग्रन्थ में निर्गुण विचार के साथ कुछ खास व्यवहारों और पूजापद्धति को जोड़ रहे थे। यह प्रक्रिया उस समय के लगभग सभी 'निर्गुण' संप्रदायों में चल रही थी।

वस्तु/कथ्य के स्तर पर 'निर्गुण' विचार को एक खास सैद्धांतिक रूप देने के इस प्रयास में अलग-अलग संप्रदायों के रचनाकार तथा संग्रहकार कुछ विषयों को चुनकर अन्य विषयों को छोड़ देते थे। ऊपर वर्णित निर्गुण संप्रदायों के ग्रन्थों में मोटे तौर पर रचनाकारों और संग्रहकर्ताओं ने 'निर्गुण' विषयों पर बल देते हुए 'सगुण' विषयों का बहिष्कार किया है। यहाँ पर सभी ग्रन्थों के सभी विषयों का परिचय देने की गुंजाइश नहीं है; फिर भी हम इतना जरूर कह सकते हैं कि मोटे तौर पर इन ग्रन्थों में विरह, तीर्थ, पौराणिक कहानियां, आख्यानपरक शैली, श्रृंगार रस, दूल्हे या पति के प्रति प्रेम भाव, वात्सल्य भाव, दास्य भाव जैसे सगुण विषय, रूपक, शैली इत्यादि तत्व बहुत कम मात्रा में मिलते हैं; जबकि नाम महिमा, योग साधना, काम तथा नारी की निंदा, गुरु की प्रसंशा, ज्ञान की महिमा,

संसार की नीरसता इत्यादि 'निर्गुण' विषय, तत्व आदि बड़ी मात्रा में मिलते हैं। तथाकथित 'निर्गुण' और 'सगुण' भक्त कवियों में विषय, शैली, रूपक इत्यादि की काफी विविधता थी लेकिन साथ ही उनके बीच बहुत से सामान्य विषय भी थे। परंतु 1650ई. के बाद के निर्गुण संप्रदायों के ग्रन्थों में विषय तथा स्वरूप के स्तर पर कविताओं में एक विचारणीय समरूपता ('होमोजेनिटी') दिखाई देती है। इन ग्रन्थों में कबीर रैदास, सुंदरदास इत्यादि की नारी रूप, पतिव्रता, दासरूप वगैरह से संबंधित कविताएं कहाँ हैं? साफ लगता है कि 1650ई. के बाद के सांप्रदायिक संग्रहों में इन कवियों के सगुण पहलू को दबा दिया गया है।

'निर्गुण' तत्वों पर जोर देने और 'सगुण' तत्वों का सचेत रूप से बहिष्कार करने के अलावा इस दौर के कुछ कवि और साधक खुले तौर पर अपने विचार और साधना प्रणाली को 'निर्गुण' परंपरा से जोड़ते थे और एक अनुमानित 'सगुण' परंपरा से अपनी भिन्नता घोषित करते थे। हम फिर से दादू पंथ के कवि सुंदरदास के उस पद को देखें जिसमें वे निर्गुण और सगुण भक्ति का विभाजन करते दिखाई देते—

शिष तोहि कहूँ श्रुति वानी, सब संतन साखि बखानीं
दो रूप ब्रह्म के जाने, निर्गुण और सगुण पिछाने।।
निर्गुण जिन रूप नियारा, पुनि सगुण सत अवतारा।
निर्गुण की भक्ति सुमन से, संतन की मन अरु तन से।।
एकाग्रह चित्त जु राखे, हरि गुन सुन रस चाखे।
पुनि सुने संत के बैना, यह श्रवण भक्ति मन चैना।।

यहाँ पर सुंदरदास ने साफ़ तौर पर निर्गुण और सगुण भक्ति का विभाजन किया है। सुंदरदास इस दौर के एकमात्र दादूपंथी थे जिन्हें परंपरागत संस्कृत आधारित शिक्षा प्राप्त थी और इसका प्रभाव उनके धर्म-सिद्धांत से संबंधित कविताओं में दिखाई देता है : उपरोक्त पद में उनकी शैली 'स्कीमैटिक' (योजनाबद्ध रेखाचित्र जैसी) और व्याख्यात्मक है। 'ज्ञानसमुद्र' के बाकी पदों में भी वे बहुत ही व्यवस्थित ढंग से भक्ति और उपासना के अलग-अलग प्रकारों और श्रेणियों की व्याख्या करते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि संभवतः बाद के किसी दूसरे रचनाकार ने कविता को ऐसा रूप दिया : फिर भी यह कविता अपने आप में काफी व्यवस्थित और व्याख्यात्मक है, जो 'साहित्यिक' नहीं लगती। खैर, भक्ति और साधना की इस व्याख्या में वे सगुण भक्ति का उल्लेख, उसकी निंदा या आलोचना के बगैर करते हैं। वे सिर्फ सगुण भक्ति को उसके 'सत' अवतार के साथ पहचानने का उपदेश देते हैं। लेकिन 'ज्ञानसमुद्र' की बाकी कविताओं में (और असल में उनकी बाकी सभी रचनाओं में भी) सगुण भक्ति उपासना की बात फिर एक बार भी नहीं आती। अतः 'ज्ञानसमुद्र' में निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति का भेद करने के बाद वे क्रमशः बड़े विस्तार से निर्गुण भक्ति और साधना के प्रकारों-गुरुसेवा, दास्य भाव, नाम साधना, योग साधना इत्यादि-का विश्लेषण करते हैं; परन्तु वे कहीं 'सगुण भक्ति' या 'सगुण उपासना' का उल्लेख नहीं करते। इस प्रकार ऐसा लगता है कि सगुण भक्ति से निर्गुण

भक्ति का अलगाव बताकर वे सीधे निर्गुण भक्ति की रूपरेखा तैयार कर रहे हैं—उन्हें सगुण परंपरा से कोई मतलब नहीं है।

जहाँ तक उनके संप्रदाय और परंपरा के स्रोतों की बात है, सुंदरदास ऐसी गुरु-शिष्य परंपरा का निर्माण करते हैं जिसका पूरे भक्ति आंदोलन से कोई संबंध नहीं, बल्कि जिसका मूल स्रोत वेद परंपरा में मिलता है। सुंदरदास निश्चित तौर पर भक्त के रूप में कबीर और नामदेव की प्रशंसा करते हैं और इस तरह उनकी परंपरा को अपनी परंपरा से जोड़ देते हैं-

जैसे नाम कबीर जी, यूं साधु कहाया।
आदि अंतलौं आय के, रस राम समाया।।[5]

लेकिन जब वे अपनी गुरु परंपरा बताते हैं, तब वे दादू दयाल से ब्रह्म तक अद्वैतवादी गुरुओं के एक निरंतर सिलसिले का निर्माण करते हैं, जिसमें किसी भक्त कवि या गुरु का नाम मौजूद नहीं है।[6] जैसा कि बर्गहार्ट ने लिखा भी है कि संप्रदाय की संरचना की वजह से एक 'नया' संप्रदाय स्थापित करने के लिए प्रवर्तक का किसी लौकिक गुरु से संबंध मिटाकर किसी आदि, अलौकिक गुरु तक शिष्य परंपरा निर्मित करने की जरूरत पड़ती है; इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।[7] विचारणीय बात यह है कि सुंदरदास इतनी विशुद्ध अद्वैतवादी परंपरा बनाते हैं और इस परंपरा के वैचारिक स्रोतों को वेद और पुराणों से जोड़ते हैं। जिस प्रकार तुलसीदास अपने विचार की प्रामाणिकता को शास्त्रीय परंपरा की प्रामाणिकता से जोड़ते हैं, सुंदरदास भी उसी प्रकार दादूपंथ के अद्वैतवाद को प्रमाणित करते हैं—

एक अंखडित ब्रह्म विराजत नाम जुदा कर विश्व कहावे।
एक हि ग्रन्थ पुराण बखानत एक हि दत्त वसिष्ट सुनावे।।
एक हि अर्जुन उद्धव से कहि कृष्ण कृपा के समझावे।
सुंदर द्वैत कछू मत जानहुं एक हि व्यापक वेद बतावे।।[8]

इस तरह से सुंदरदास वेद और पुराण से शुरु होकर गीता और भागवत पुराण के माध्यम से दादूपंथ तक पहुंचती हुई एक अखंडित अद्वैतवादी परंपरा का निर्माण करते हैं।

डेविड लॉरेंजन ने कबीर पंथ के संदर्भ में व्यवस्थित 'नान कास्ट' हिंदू परंपरा की समीक्षा की है। उन्होंने बताया है कि कबीर पंथ ने कबीर की निर्गुण राम की अवधारणा को काफी हद तक जैसे का तैसा रहने दिया, परंतु उसको लेकर विस्मृत निर्गुण धर्म-सिद्धांत का निरूपण किया। खासकर धर्मदासी उप-संप्रदाय में पंथियों ने इस निर्गुण सिद्धांत के साथ 'ब्राह्मणवादी सगुणवाद' की भांति अवतारवाद को जोड़ दिया है : इसमें कबीर सतपुरुष का अवतार माने जाते हैं, जो बार-बार विश्व के कल्याण के लिए रूप लेकर प्रकट होते हैं[9] इस प्रकार पंथियों ने निर्गुण रूपी राम के विचार के आधार पर ऐसा सिद्धांत बनाया जिसकी संरचना 'ब्राह्मणवादी सगुणवाद' की है लेकिन अन्तर्वस्तु सगुणवाद विरोधी है :

''धर्मदासी उपसंप्रदाय के थोड़े से सनकी मिथकों इस वर्ण-आश्रमी मिथकों के स्वरूप का कुछ अनुकरण हुआ है परंतु इन (मिथकों) की अन्तर्वस्तु वर्ण आश्रमी हिंदू धर्म विरोधी रह जाती है; जिनमें सतपुरुष का अवतार होते हुए भी कबीर निर्गुण राम की पूजा का उपदेश देते हैं, अवतार रामचंद्र की नहीं।''[10]

इन संप्रदायों के लगभग सभी कवि लगातार मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा इत्यादि 'सगुण' व्यवहारों की निंदा कर रहे थे और इसे लेकर 'सगुण' संप्रदाय के साधुओं से उनके झगड़े भी होते थे। मिसाल के तौर पर पलटू (1770ई.) ने अपने 'राम कुंडलिया'में मूर्तिपूजा का घोर विरोध किया; बाद में इसकी प्रतिक्रिया में वैष्णव साधुओं ने मिलकर उनको जाति बाहर कर दिया, कहा जाता है कि इस पर उन्होंने यह पद रचा—

सब वैरागी बटुर के पलटुहिं कियो अजात.....
लो लाज कुल छाड़िके, कर लीजे अपना काम।
जगत हँसै तो हँसन दे, पलटू हँसै न राम।।[11]

सुंदरदास ने अपने समय के उन कवियों की निंदा की है, जो दरबार में आश्रय लेकर ऐसी भक्ति कविता रचते थे जिनमें वे अलंकार, रीति, नख-शिख और श्रृंगार के साथ भक्ति भाव को मिला देते थे —

रसिक प्रिया रस मंजरी और श्रृंगार हि मान.....
जागै मदन प्रचंड सराहै लखशिख नारि
ज्यों रोगी मिष्टान्न खाई रोगहिं विस्तारै।
सुंदर ये गति होइ जो रसिक प्रिया धारै।[12]

गुरू नानक ने भी कुछ 'सगुण' संप्रदायों की आलोचना की, हालांकि सीधे तौर पर नहीं। बडथ्वाल ने दिखाया है कि स्वर्ग के पांच खंड़ों की अपनी अवधारणा में नानक ने मूर्तिपूजा जैसी निचली श्रेणी का धर्म मानने वालों के लिए 'धर्म खंड' और चैतन्य जैसे रसिक रहस्यवादियों के लिए 'सरम खंड' बताया है—

धरम खंड का एहो धरमु। गिआन खंड का आखहु करमु।।

•••

सरम खंड की बाणी रूप। तिथै घाड़ति घाड़िए बहुत अनूप।।[13]

ऐसे झगड़े-कविता में और वास्तव में भी—19वीं सदी तक बराबर होते रहते थे। सवाल इस बात का है कि क्या इन 'निर्गुण' संप्रदायों के रचनाकार अपने प्रतिद्वंद्वी संप्रदायों को वास्तव में किसी 'सगुण' परंपरा का सदस्य मानते थे? क्या वे अनुमानित 'सगुण' परंपरा की तुलना में एकीकृत 'निर्गुण' परंपरा के निर्माण का प्रयास कर रहे थे? हमारे पास फिलहाल इस सवाल का निष्कर्ष निकालने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं।

एकीकृत निर्गुण परंपरा का निर्माण का प्रयास करने वालों में सबसे प्रधान भक्त कवि तुलसी साहब (1763ई.-1842ई.) थे, जिन्होंने सभी निर्गुण पंथों के सांप्रदायिक अलगाव की निंदा करते हुए कबीर और कबीर से प्रभावित सभी भक्त कवियों में विचार और परंपरा की एकता दिखलाने की कोशिश की। उन्होंने अपने 'घट रामायण' में कबीर तथा नानक के उपदेशों को भूलकर अपने संप्रदायों में कर्मकाण्ड और सांप्रदायिक भेदभाव बढ़ाने के लिए कबीर पंथ के महन्त फूलदास तथा नानक पंथ के पलकराम नानकपंथी की निंदा की है :

मेटि कबीर जो राह बताई। मनमत अपनी राह चलाई।

•••

बाबे वाह गुरु बतलावा, तुमने याह गुरु मन लावा।।[14]

ऐसी सांप्रदायिकता के विरोध में तुलसी साहब ''कबीरपंथ'' को एक पूरी परंपरा का रूप देकर एकीकृत ''संत मत'' की 'विधि' की रूपरेखा बनाते हैं—

संतमता विधि एकहि जाना। नाम कही विधि आनहि आना।।
तासे तुमको बूझ न आवे। अनि अनि नाम धरे विधि गावे।।
पंथ नाम मारग का होई। मारग मिलै पंथ है सोई।।
पंथ कबीर साई है भाई। गए कबीर जेहि मारग जाई।।
ये नहिं पंथ कहाव भाई। चेला करि सिख राह चलाई।।
ये सब जाति पाँति कर लेखा। यासेगुरु सिख तरत न देखा।[15]

महत्वपूर्ण बात यह है कि तुलसीसाहब के समय (अर्थात् 18वीं सदी के आखिरी दौर) तक 'संत मत' परंपरा की अवधारणा विकसित हो चुकी थी। मैंने कुछ उदाहरणों के द्वारा सुंदरदास के समय से तुलसीसाहब के समय तक 'निर्गुण' संप्रदायों के बीच इस अवधारणा के विकास का संभावित रेखाचित्र बनाने की कोशिश की है, परंतु और विस्तार से इस विकास की समीक्षा की जरूरत है।

हालांकि वैचारिक विमर्श के स्तर पर ये संप्रदाय 'सगुण' तत्त्वों का बहिष्कार करते हुए अपनी 'निर्गुण' अस्मिता पर जोर दे रहे थे, लेकिन व्यवहार के स्तर पर वे अपने-अपने पंथों में विविध प्रकार की परंपराओं तथा पद्धतियों को भी जगह देते थे, इनमें से बहुत सारी परंपरायें तथा व्यवहार ऐसे हैं जिन्हें आज हम 'सगुण' कहते हैं। इस प्रसंग में दो दादूपंथी हस्तलिखित ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं : 1) ग्रन्थ HSS 2164, सुंदरदास तथा दादू के पदों का संग्रह 'माया को अंग' (पुष्पिका संख्या 1811) में हमें सुंदरदास और दादू की कविता के अलावा ग्रन्थ की शुरुआत में ही रामचरितमानस के बालकांड के कुछ अंश मिलते हैं! ग्रन्थ HSS 2612 नंददास के 'भ्रमरगीत (पुष्पिका मौजूद नहीं) में नंददास की भ्रमरगीत संबंधित कविता मिलती है जो निर्गुण साधना की कठोर आलोचना के तौर पर समझी जाती है। इस ग्रंथ में असाधारण बात यह है कि इसका लिपिकार कोई पुष्टिमार्गी नहीं बल्कि कोई भंवरदास हैं जो अपने आप को दादूपंथी कहते हैं! यह विचारणीय बात है कि दादूपंथ के अंदर ऐसे

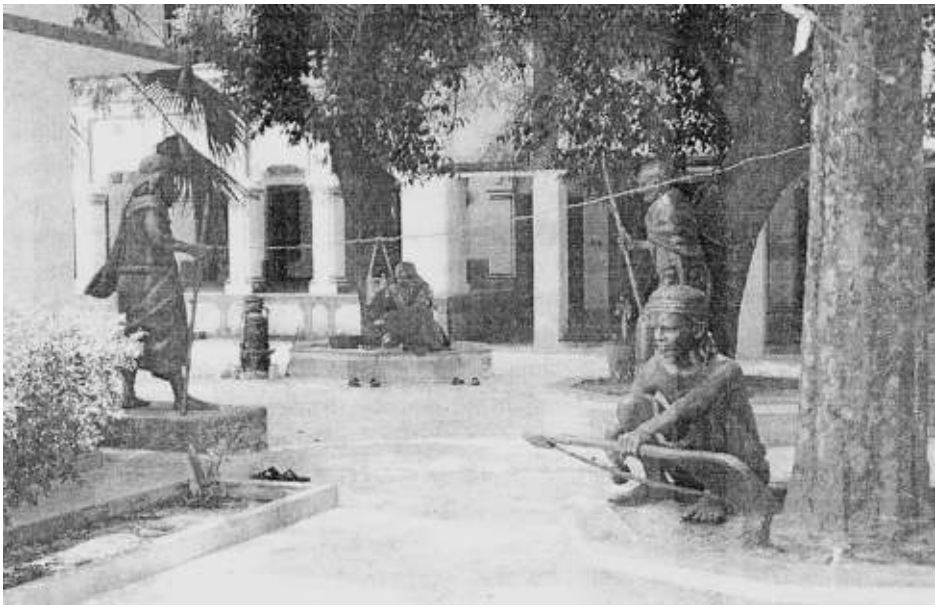

कबीरमठ,कबीर चौरा,काशी

कवियों के ग्रन्थ शामिल किए जाते थे जो उस समय भी निर्गुणपंथ विरोधी माने जाते थे। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ HSS 2223 लक्ष्मीदास के 'पद गुटका' (पुष्पिका संवत 1906) में निर्गुणपंथी कवियों की कविताओं के अलावा रामायण का एक अंश भी मिलता है। इस बात की चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है कि 1550ई. से 1900 ई. तक के बीच कितने ऐसे पद-संग्रह मिलते हैं जिनमें 'निर्गुण' कवियों की रचनाओं के अलावा कुछ 'सगुण' कवियों की रचनाएं भी मिलती हैं।

कबीर पंथ के संदर्भ में यह कहा जा चुका है कि पंथियों ने अपने निर्गुणवादी सिद्धांत के अंदर अवतारवाद को अपना लिया; इसमें कबीर सतपुरुष के अवतार माने जाते हैं। कुछ कबीरपंथी ग्रंथों में कबीर को सीधे तौर पर ईश्वर के रूप में देखा जाता है : HSS 3979 'जीवन खंड (पुष्पिका संख्या 1805) और HSS 4449 'जोगी रासा' (कोई पुष्पिका नहीं) में कबीर को बार-बार ''प्रभु कबीर'' कहा गया है। इनमें से दूसरे ग्रन्थ के हर पन्ने के हाशिए पर 'श्री गणेश'' या 'हरि राम' की तरह ''प्रभु कबीर'' मंत्र लिखा हुआ है। 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इटली के पादरी मार्को डेला टोम्बा ने पाया कि हालांकि कबीरपंथी साधू अरूप, अनाम परमात्मा को मानते थे फिर भी वे साकार नारायण और निरंजन को भी मानते थे तथा कबीरपंथ के अंदर भवानी (दुर्गा का एक रूप) की पूजा भी होती थी।[16] उस समय भवानी 'निचली' जातियों के इष्टदेवी थी; इस बात को समझना बहुत मुश्किल नहीं है कि कबीरपंथ ने इस समुदाय की इष्टदेवी की पूजा को अपने संप्रदाय में स्वीकार किया-इस प्रकार वे अपने सामाजिक आधार का विस्तार कर सके। डेला टोम्बा ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि कबीरपंथ का अपना 'रामायण' था, जिसमें राम को बुद्ध जैसे साधू के रूप में दिखाया गया है।[17] डेविड लॉरेन्जन ने विस्तार से कबीरपंथ में वर्णाश्रमी हिंदू धर्म के कर्मकांडों के अनुकरण के बारे में लिखा है-गुरु दीक्षा, तुलसी की माला, आरती, व्रत, तीर्थयात्रा-कबीरपंथ ने इन सबको अपना लिया।[18] मैंने खुद देखा है कि काशी के कबीर चौरा के कबीरमठ में कबीर की तस्वीर, बीजक, खड़ाऊ, एकतारा, माला आदि की पूजा होती है। इस मंदिर जैसी इमारत में कुछ महीने पहले कबीर से लेकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा गांधी जी तक अनेक भक्तों की मूर्तियां रखी गई हैं (फोटो देखें)। यह बताया जा चुका है कि दादूपंथ, कबीरपंथ, सिख धर्म और अन्य 'निर्गुण' संप्रदायों में आमतौर पर ग्रन्थ को ईश्वर या गुरु का स्थान दिया जाता था तथा उसकी पूजा भी होती थीं।

इस प्रकार 1600ई. के बाद तथाकथित 'निर्गुण' परंपरा में हमें कुछ प्रतिद्वंद्विता और अंतर्विरोध दिखाई देते हैं। एक तरफ वैचारिक विमर्श के स्तर पर कुछ रचनाकार तथा संग्रहकर्ता 'सगुण' तत्वों की उपेक्षा और 'निर्गुण' तत्वों पर बल देते हुए अपने संप्रदाय की अस्मिता को एक अनुमानित निर्गुण परंपरा से जोड़ने की कोशिश कर रहे थे; वहीं दूसरी तरफ व्यवहार के स्तर पर ये संप्रदाय ऐसी बहुत सारी रचनाओं तथा व्यवहारों को अपना रहे थे जिन्हें हम आज सगुणवाद का हिस्सा मानते हैं। निर्गुण परंपरा से जुड़े हुए संप्रदायों के इस अध्ययन के साथ सगुण परंपरा से जुड़े हुए संप्रदायों का अध्ययन भी जरूरी है।

सगुण संप्रदायों में वैचारिक विमर्श, परंपरा का निर्माण और राज्यसत्ता से संबंध

आमतौर पर आधुनिक विद्वान जिन कवियों और संप्रदायों को सगुण इष्टदेव को मानने तथा अपने आप को शास्त्रीय या पौराणिक परंपरा से जोड़ने के आधार पर सगुण कहते हैं, क्या वे सभी सचमुच इस दौर में गंगा, यमुना और सरस्वती की तरह एक ही सगुण परंपरा के संगम मे मिलकर बह रहे थे? हम हस्तलिखित पद-संग्रहों के आधार पर देख चुके हैं कि रामभक्त-कृष्णभक्त की एकता की भावना बहुत व्यापक नहीं थी-ऐसे रामभक्त-कृष्णभक्त संग्रह बहुत कम संख्या में मिलते हैं। अधिकांश सगुण संप्रदायों के बीच घोर प्रतिद्वंद्विता चल रही थी। वस्तुतः लगता तो ऐसा है कि सगुण संप्रदाय 'निर्गुण' संप्रदायों से कम, आपस में लड़ाई ज्यादा करते थे। यहाँ पर प्रो. डालमिया का कथन याद आता है कि जिन संप्रदायों के विचार में बहुत ज्यादा भिन्नता नहीं थी तथा जिनके अनुयायी एक ही समुदाय से आ रहे थे, उनके बीच प्रतिद्वंद्विता और अधिक तीव्र होगी।

लेकिन इसके बावजूद इन विभिन्न भक्तों तथा संप्रदायों में क्या ऐसे कुछ साझा तत्व हैं, जिनके आधार पर हम 'सगुण' परंपरा की रूपरेखा बना सकते हैं? उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों और ऐतिहासिक दस्तावेजों की समीक्षा करने पर कम से कम चार चीजें सामने आती हैं, जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि उनके बीच के तमाम अंतरों और विवादों के बावजूद इन सब में एक साझी विचारधारात्मक/व्यावहारिक धारा विद्यमान है :

1. इन संप्रदायों ने बड़ी सफलता के साथ सभी परिचयी साहित्य तथा संत जीवनी साहित्य के माध्यम से बहुत सारे प्रधान भक्त कवियों की विरासत पर कब्जा किया। इस प्रकार बहुत सारे गैर सांप्रदायिक भक्त कवियों को इन्होंने 'सगुण' संप्रदायों के प्रवक्ता में तब्दील कर दिया।

2. इन भक्त कवियों और संप्रदायों को ऐसे विमर्शपरक उपकरण उपलब्ध थे जो निर्गुण भक्तों और संप्रदायों के पास नहीं थे। इन उपकरणों के जरिए उन्होंने ऐसी प्रमाणपरक रणनीतियों को विकसित किया जो 'निर्गुण' परंपरा में संभव नहीं थी। संक्षेप में ये उपकरण थे— आख्यानपरक शैली, भौगोलिक संबंध तथा परंपरागत कला के साथ संबंध।

3. इन रणनीतियों के साथ कुछ सामाजिक नीतियां और व्यवहार भी जुड़े हुए थे; मैं यहाँ पर सिर्फ दो का उल्लेख करूंगा : लोक परंपराओं का स्वीकार और 'निर्गुण' परंपराओं का भी स्वीकार।

4. इन संप्रदायों के सामाजिक आधार तथा उपरोक्त रणनीतियों की वजह से 'सगुण' संप्रदायों और राजसत्ता के बीच ऐसा संबंध विकसित हुआ जो 'निर्गुण' संप्रदाय और राजसत्ता के बीच बहुत कम दिखाई देता है। राजसत्ता के प्रति इन 'निर्गुण' संप्रदायों का दृष्टिकोण काफी अलग था।

प्रधान भक्त कवियों पर कब्जा करने का इन संप्रदायों का प्रयास बहुत हद तक सफल रहा। भक्ति आंदोलन के आरंभिक दौर में अधिकांश सभी परिचई ग्रन्थ-चाहे वे किसी भी संप्रदाय के हों- संरचना तथा वस्तु के स्तर पर ज्यादा सांप्रदायिक नहीं हैं। चाहे अनंतदास के सभी परिचई ग्रन्थ हों या नाभादास का 'भक्तमाल' हो अथवा उसके बाद भक्तमालों की परंपरा का कोई भक्तमाल हो, ये ग्रन्थ समस्त भक्त

कवियों का समावेश करके एक परंपरा के निर्माण का लक्ष्य लेकर रचे गए थे। यह बात इन रचनाकारों की या उनके संप्रदायों की उदारचरितता का प्रमाण नहीं है; निश्चित रूप से ये संप्रदाय इस प्रकार ज्यादा से ज्यादा भक्त कवियों की विरासत और सामाजिक आधार को अपनी-अपनी परंपराओं के अंदर खींचने की कोशिश कर रहे थे- इसे भी रणनीति के तौर पर समझा जा सकता है। प्रियादास की 'भक्तिरसबोधिनी' (1712ई.) और महिपति के 'भक्त विजय' से ऐसा प्रतीत होता है कि काफी सालों बाद भी इस रणनीति का प्रयोग खत्म नहीं हुआ था, परंतु लगभग 1600ई. के आस-पास कृष्णभक्त और रामभक्त संप्रदाय अन्य रणनीतियों का प्रयोग भी करने लगे। वे कुछ खास कवियों को चुनकर अपने संप्रदायों के साथ इन कवियों की जीवनकथाओं को संबद्ध करने लगे। इस मामले में वल्लभ संप्रदाय सबसे आगे था। यह बताया जा चुका है कि गोकुलनाथ (1551ई.-1640ई.) और हरिराय (1590ई.-1715ई.) ने 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में किस तरह से सूरदास को वल्लभाचार्य तथा बिट्ठलनाथ का शिष्य और पुष्टिमार्ग का प्रवक्ता बना दिया : उन्होंने सूरदास की कविताओं को नए क्रम में व्यवस्थित करके उन्हें वल्लभ और सूरदास के संबंध की कहानियों के साथ जोड़ दिया। इस संभावना के पक्ष में पर्याप्त प्रमाण हैं कि गोकुलनाथ और हरिराय ने 'अष्टछाप' के अन्य कवियों पर भी इसी तरह कब्जा कर लिया- इस समय के गैर पुष्टिमार्गी सभी परिचई साहित्य और पद-संग्रहों को देखकर ऐसा लगता है कि अष्टछाप के कुछ कवियों को उनके देहान्त के कुछ समय बाद 'अष्टछाप' या पुष्टिमार्गी बनाया गया। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में वल्लभ संप्रदाय के गोकुलनाथ ने न सिर्फ अपने संप्रदाय के कवियों पर बल्कि प्रतिद्वंद्वी परंपराओं के कवियों पर भी काफी कुछ लिखा है; उन्होंने खासतौर पर मीराबाई और तुलसीदास की आलोचना की है। इस प्रकार सभी परिचई साहित्य के माध्यम से वल्लभ संप्रदाय ने अन्य संप्रदायों तथा परंपराओं के सापेक्ष अपनी अस्मिता की रूपरेखा निर्मित की। इस नमूने को लेकर अन्य कृष्ण भक्त संप्रदायों-राधावल्लभ संप्रदाय, सखी संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय इत्यादि-ने भी अपने सभी परिचई साहित्य तैयार किए।

रामभक्त संप्रदायों के संदर्भ में रिचर्ड बर्गहार्ट, विलियम पिंच और पुरुषोत्तम अग्रवाल ने रामानंदी संप्रदाय के भीतर संप्रदाय के इतिहास लेखन और पुनर्लेखन की प्रक्रिया पर विस्तार से लिखा है। उन्होंने यह दिखाया है कि किस तरह रामानन्दी संप्रदाय अलग-अलग सामाजिक-राजनैतिक स्थितियों के अनुसार अपनी गुरु-शिष्य परंपरा के इतिहास को संशोधित कर लेता था : वह किसी खास जाति और समुदाय में अपना सामाजिक आधार विस्तृत करने के लिए कभी-कभी कबीर व रविदास जैसे 'निम्न जाति' के भक्तों के साथ अपने संबंध पर जोर देता था तो कभी-कभी इस संबंध को मिटाने की कोशिश करता था।[19] विचारणीय बात यह है कि 18वीं सदी की शुरुआत में जब रामानंदी संप्रदाय गलता सम्मेलन में चतुःसंप्रदायों में से रामानुजी संप्रदाय का स्थान छीनकर, उसे विस्थापित कर स्वयं सत्तासीन हो गया, तब उसने कबीर, रैदास, धन्ना ओर सेन को रामानंदी संप्रदाय प्रवर्तक न मानकर एक तरह से इन भक्त कवियों और उनके अनुयायिओं को रामानंदी संप्रदाय की परंपरा से बाहर कर दिया।[20] इस प्रकार संप्रदाय के ताकतवर हो जाने के बाद रामानंदी संप्रदाय ने 'निर्गुण' भक्तों और परंपराओं से अपना संबंध खत्म कर लिया। वस्तुतः अनेक कृष्णभक्त और रामभक्त संप्रदायों के इतिहास को

देखकर ऐसा लगता है कि अपने आरंभिक दौर में (जब वे अपने सामाजिक आधार का विस्तार करने का प्रयास कर रहे थे) वे 'निर्गुण' भक्तों तथा परंपराओं को अपनी परंपरा का अंश मानते थे; बाद में, जब वे अच्छी तरह स्थापित हो गए, उन्हें अपने सामाजिक आधार का विस्तार करने की उतनी जरूरत नहीं रह गई। तब उन्होंने 'निर्गुण' भक्तों और परंपराओं से अपना संबंध तोड़ लिया।

इन 'सगुण' संप्रदायों के पास ऐसे विमर्शपरक उपकरण थे, जो उनके 'निर्गुण' भाइयों को उपलब्ध नहीं थे। अर्थात् सगुण ईश्वर की भक्ति की विचारधारात्मक संरचना में कुछ ऐसे विमर्शपरक तत्व अंतर्निहित हैं जो निर्गुण ईश्वर की भक्ति की संरचना में मौजूद नहीं हैं तथा जिन्हें लेकर 'सगुण' संप्रदायों ने ऐसी प्रमाणपरक रणनीतियों का निर्माण किया, जिनका प्रयोग 'निर्गुण संप्रदायों में उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता था।

आख्यानपरक शैली ऐसा ही एक विमर्शपरक उपकरण थी। सगुण इष्टदेव को लेकर आख्यानपरक शैली के पाठ रचे जा सकते थे-भक्ति आंदोलन में इसके सबसे प्रमुख उदाहरण हैं सूरसागर, गीतगोविन्द और रामचरितमानस- जो निर्गुण ईश्वर के प्रसंग में एकदम असंभव थे। मिसाल के तौर पर आख्यानपरक शैली को लेकर 'सगुण' संप्रदाय कई प्रदर्शन शैलियों का इस्तेमाल कर सकते थे-नाट्य, लोक-नाटक, नृत्य इत्यादि। इन संप्रदायों ने बहुत सफलता के साथ रामलीला, कृष्णलीला, रास और गरबा तथा अनेक उत्सवों का इस्तेमाल अपने सामाजिक आधार को मजबूत बनाने के लिये किया। आगे चलकर हम देखेंगे कि ऐसे नाटक और उत्सव इन संप्रदायों तथा राज्यसत्ता के बीच संबंध के महत्वपूर्ण संदर्भ बन गए। निश्चय ही अपने इष्टदेव से संबंधित कथनों को छोड़कर 'निर्गुण' पंथ अन्य क्षेत्रों में-खासकर संत जीवनी और सभी परिचई साहित्य में-आख्यानपरक शैली के इस्तेमाल के मौके ढूंढ़ निकालते थे; परंतु उनके साहित्य तथा साधना प्रणाली में आख्यानपरक शैली की वैसी केन्द्रीयता हो ही नहीं सकती थी जैसी 'सगुण' संप्रदायों में थी।

इस आख्यानपरक शैली के साथ 'धार्मिक भूगोल' का तत्व भी जुड़ा हुआ था। पौराणिक साहित्य तथा लोक परंपराओं से प्रेरणा लेकर सूरदास, तुलसीदास इत्यादि भक्तों ने अपने इष्टदेव और उसकी कथा को एक खास भौगोलिक क्षेत्र से जोड़ दिया। जिन संप्रदायों ने उन्हें तथा उनकी रचनाओं को अपनी-अपनी परंपराओं से जोड़ा, उन्होंने इन कथनों के आधार पर ब्रज तथा अयोध्या के तीर्थ स्थानों और तीर्थ यात्रा के रास्तों पर कब्जा करने की कोशिश की। भक्ति आंदोलन से पहले इन क्षेत्रों में तीर्थ स्थान और तीर्थ यात्रा को लेकर विस्मृत और जटिल अर्थव्यवस्थाएं विकसित हो चुकी थीं; भक्तिकाल में कृष्ण भक्त और राम भक्त संप्रदायों की संख्या में वृद्धि के साथ ही इन 'संसाधनों' के लिए संप्रदायों में प्रतिद्वंद्विता और तीव्र हो गई।[21] इसलिए हम देखते हैं कि कृष्णभक्त और रामभक्त संप्रदाय तीर्थयात्रा से संबंधित साहित्य तैयार करने में काफी समय देते थे। इन तीर्थ स्थानों और तीर्थ यात्रा से संबंधित ग्रन्थों में वे किसी खास भौगोलिक क्षेत्र के साथ केवल अपने इष्टदेव की जीवनकथा को ही नहीं बल्कि अपने संप्रदाय के इतिहास को भी जोड़ देते थे। तीर्थस्थान और तीर्थयात्रा के रास्ते संप्रदाय में नए शिष्य और अनुयायी लाने के लिए और मुद्रा तथा संपत्ति प्राप्त करने के लिए बेहद जरूरी थे; इसलिए, मंदिर, घाट, धर्मशाला और साहित्य के माध्यम से इन स्थानों और रास्तों के साथ अपने संप्रदाय का संबंध

स्थापित करना एक महत्वपूर्ण काम है। इस मामले में अपनी सगुण भक्ति की संरचना की वजह से 'सगुण' संप्रदाय 'निर्गुण' संप्रदायों से काफी आगे था।

सगुण भक्ति में आख्यानपरक शैली की मौजूदगी की वजह से 'सगुण' संप्रदाय बहुत सी कलात्मक शैलियों का इस्तेमाल कर सकते थे, जो 'निर्गुण संप्रदायों को उस तरह उपलब्ध नहीं थीं। मिसाल के तौर पर इन संप्रदायों में ललितकला के कुछ विशिष्ट रूपों का अच्छा इस्तेमाल होता था : चित्रकला, मूर्तिकला इत्यादि। भक्ति आंदोलन के आविर्भाव से पहले उत्तर भारत में ललितकला, नाट्यकला, नृत्यकला की जो शास्त्रीय परंपराएं और लोकपरंपराएं मौजूद थीं तथा उन सबके बीच जो जटिल और अत्यंत विकसित संबंध था, 'सगुण' संप्रदायों ने उनका खूब इस्तेमाल किया। मिसाल के तौर पर 'राग-माला' परंपरा में कलाकार एक राग को लेकर उसका दृश्य प्रदर्शन तस्वीरों में करते थे, कृष्णभक्ति संप्रदायों के प्रभाव में कुछ खास राग कृष्णभक्ति से जुड़ गए और रागमाला चित्रों में उनका प्रदर्शन कृष्ण और राधा के चित्रों में होने लगा।[22] रामलीला तथा कृष्णलीला प्रदर्शनों की ऐसी कलात्मक शैलियां 'सगुण' भक्ति संप्रदायों और राज्यसत्ता के बीच संबंध की कड़ियां बन गईं।

जाहिर है कि शास्त्रीय कला परंपरा के साथ इन संप्रदायों के संबंध से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका सामाजिक आधार शासक और व्यापारी वर्ग में था। लेकिन शासक वर्ग और दरबारी संस्कृति के साथ इन संप्रदायों के संबंध की चर्चा करने से पहले सामाजिक के प्रसंग में एक और बात का उल्लेख जरूरी है। इन 'सगुण' संप्रदायों के सामाजिक आधार से जुड़े लोगों के बीच 'निर्गुण' भक्त कवियों को भी सम्मान प्राप्त था; इसका प्रमाण यह है कि आधुनिक काल तक कृष्ण भक्त तथा राम भक्त संप्रदायों के ग्रन्थों में कबीर, रविदास और अन्य प्रतिष्ठित 'निर्गुण' संतों के सकारात्मक उल्लेख तथा पद मौजूद हैं। संभवतः जनसमुदाय में इन भक्त कवियों की रचनाओं का संचार इतना व्यापक था कि उनकी उपेक्षा करना असंभव था; या कभी-कभी उनका इस्तेमाल करना लाभदायक हो सकता था। इसलिए ग्रन्थ HSS 2132 'पदसंग्रह टीका' (पुष्पिका संख्या 1961) में हितहरिवंश के पद की व्याख्या करने के लिए प्रियादास को कबीर के कुछ पदों का इस्तेमाल करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। अनेक कृष्ण भक्त पद-संग्रहों- NPS 256, 643/च RORI JAI 9480(6), 9480(10), HSS 2097.3651 इत्यादि प्रसिद्ध कृष्णभक्त कवियों (अष्टछाप के कवि भी) में कबीर, रविदास और गोरख के पद भी मिलते हैं।

राज्यसत्ता के साथ सगुण संप्रदायों का एक खास संबंध बना, जो इन संप्रदायों के सामाजिक आधार तथा उनके वैचारिक विमर्श के कुछ खास तत्त्वों के साथ जुड़ा हुआ था। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध (1550ई0 के बाद) में मुगल साम्राज्य के शासक वर्ग में परिवर्तन और फिर 1700ई. के बाद मुगल साम्राज्य की अवनति के साथ नए क्षेत्रीय दरबारों के उदय की वजह से दरबारी संस्कृति के नए रूपों की जरूरत थी और सगुण संप्रदायों ने इस मौके को पहचानते हुए उस जरूरत को पूरा किया। सतीशचंद्रा ने लिखा है कि अकबर के समय में मुगल साम्राज्य के शासकवर्ग में परिवर्तन होने लगा : उस समय तक शासक वर्ग मुख्यतः 'मुस्लिम' मुगल समुदाय से आता था, परंतु अकबर के काल में मराठा, अफगान, सिख, जाट आदि समुदायों के लोग शासक वर्ग में आने लगे। इस नए

शासकवर्ग के सामासिक स्वरूप की वजह से ऐसी दरबारी संस्कृति की जरूरत थी जो जाति या धर्म पर नहीं बल्कि सांस्कृतिक या वर्गीय संस्कारों पर केन्द्रित हो। उनके अनुसार हिन्दी की रीतिबद्ध कविता इस संस्कृति का एक हिस्सा थी :

> ''ये रचनाएं जो मुगल अभिजात वर्ग में सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का निर्णय करती थीं, उस परिवर्तन को प्रतिबिंबित करती हैं जिसमें (वर्ग) चेतना जाति या कबीले की बजाय कुछ खास सांस्कृतिक मूल्यों पर केन्द्रित होने लगी। ये मूल्य काफी हद तक उस समय के फारसी काव्य में प्रतिबिम्बित थे। हिन्दी में रीति कालीन काव्य का उदय 17वीं शताब्दी में एक समानान्तर प्रवृति को प्रतिबिम्बित करता है उस समय तक मुगल शासकवर्ग का स्वरूप सामासिक हो गया था-उसके सदस्य विविध जातियों और धार्मिक संप्रदायों से आते थे - इसलिए (शासक वर्ग में) धर्म अलग-अलग समुदायों के बीच संप्रेषण का आधार नहीं हो सकता था।.....दरबार अपने आप में इस वर्ग के लिए धर्मनिरपेक्ष केन्द्र बन गया....उस काल की हिन्दी रीतिबद्ध कविता (को)..... ऐसा गैर विचारधारात्मक आधार समझा जाना चाहिए जिसे सामासिक मुगल शासक वर्ग संप्रेषण का माध्यम बनाने की कोशिश कर रहा था।''[23]

सतीश चन्द्रा यह भी लिखते हैं कि औरंगजेब के राज्य से लेकर क्षेत्रीय अभिजात्य वर्गों के उदय तक ऐसी धर्मनिरपेक्ष दरबारी संस्कृति की जरूरत और बढ़ती ही गई : ''संस्कृति के स्तर पर मुगल दरबार और शासक वर्ग मोटे तौर पर धर्मनिरपेक्ष मूल्यों का समर्थन करते थे और मध्य एशिया, ईरान तथा भारत की समृद्ध सांस्कृतिक परंपराओं से काफ़ी कुछ ग्रहण करते थे। नया मुगल शासकवर्ग जो विविध जातियों तथा धार्मिक संप्रदायों से आए हुए लोगों से बना था, नया सांस्कृतिक आधार बनाने का प्रयास कर रहा था— यह बात उस काल की इमारतों, संगीत-कला, चित्रकला, रूढ़ियों और रिवाजों में प्रतिबिम्बित हुई....(इस संस्कृति) के दो सबसे प्रधान साहित्यिक माध्यम फारसी और हिन्दी थे.... दोनों ज्यादा से ज्यादा एक ही समुदाय से आश्रय लेते थे--अर्थात् मुगल आभिजात वर्ग, उसकी सेवा करने वाला वर्ग, छोटे अधिकारी (कायस्थ, खत्री इत्यादि), व्यापारी तथा कुछ स्वतंत्र राजा और उनके दरबार के लोग। हिन्दी भक्ति काव्य के व्यापक संचार की गवाही अब्दुल वहीद बिलग्रामी 'हकायक-ए-हिन्दी' में और बदायूंनी भी देते हैं.... ये सभी रचनाएँ साफ तौर पर (उस) नए सामाजिक शासकवर्ग के लिए थीं, जो देश में विकसित हो रहा था।''[24]

सतीश चंद्रा की इस व्याख्या के साथ एक और बात जोड़ना जरूरी हैः हालांकि सतीश चंद्रा के शब्दों में मुगल शासक वर्ग 'धर्मनिरपेक्ष' सांस्कृतिक आधार बनाने की कोशिश कर रहा था, लेकिन इस 'धर्मनिरपेक्ष' संस्कृति में धर्म से संबंधित कला के लिए बहुत जगह थी-औरंगजेब को छोड़कर अकबर से लेकर अवध के नवाबों तक ज्यादातर मुगल तथा गैर-मुगल शासक अपने दरबारों में विविध

धार्मिक संप्रदायों से संबंधित कलाओं को आश्रय देते थे। ऐसा लगता है कि हिन्दी भक्ति काव्य पर अपने बयान में सतीश चन्द्र इस बात का संकेत कर रहे हैं, लेकिन वे कहीं पर स्पष्ट रूप से यह बात नहीं कहते।

इस प्रसंग में दरबारी रीतिकाव्य के साथ 'सगुण' भक्ति काव्य के संबंध की समीक्षा की जरूरत है। विष्णुदास (1435ई.), कृपाराम (1541ई.) नंददास (1570ई.) और केशवदास की कविता की समीक्षा करते हुए एलिसन बुश ने कहा कि अक्सर 'भक्ति' और 'रीति' तत्व दोनों ही एक रचनाकार की रचनाओं में मौजूद होते थे और मध्यकालीन दरबारी कविता में अक्सर दोनों एक साथ होते थे।[25] उन्होंने यह प्रस्ताव रखा है कि 'भक्ति' और 'रीति' को अलग-अलग कालों या आंदोलनों के रूप में नहीं बल्कि अलग-अलग परंतु आपस में संबंधित 'रजिस्टर', 'मोड', या 'एस्थटिक' के रूप में समझा जाना चाहिए, जो एक रचनाकार या एक रचना में एक साथ मौजूद हो सकते हैं—

> ''शैली या आश्रय संदर्भ के संकेतों के रूप में ('भक्ति' और 'रीति' पारिभाषिक शब्दों) की कुछ प्रासंगिकता हो सकती है। लेकिन कालक्रम के आधार पर उनके विभाजन की ज्यादा से ज्यादा थोड़ी ही प्रामाणिकता हो सकती है। वस्तुतः ये दो प्रवृत्तियां असल में समकालिक और पारस्परिक रूप से संबंधित, और अक्सर दोनों एक ही रचनाकार- या एक ही रचना- में मौजूद होती थी।... 'भक्ति' और 'रीति' पारिभाषिक शब्द इस सामाजिक संदर्भों के बीच भेद का संकेत भी करते हैं, जिनमें साहित्य का उत्पादन होता था-मोटे तौर पर ये संदर्भ दरबार और मंदिर कहे जा सकते हैं। लेकिन एक संदर्भ में (रचना या रचनाकार) का आश्रित होना, दूसरे संदर्भ में उसके आश्रय को बाधित नहीं करता था।''[26]

इस प्रकार 'भक्ति साहित्य' दरबारी 'रीति साहित्य' से अलग नहीं था, वह दरबारी काव्य का एक हिस्सा था।

'सगुण' भक्ति संप्रदाय ने शासक वर्ग के अंदर नई दरबारी संस्कृति की मांग का काफी लाभ उठाया। सगुण भक्ति काव्य खास रूप से दरबारी संस्कृति की जरूरतों के योग्य था : उसमें आख्यानपरक शैली को लेकर अलंकार और रीति की बड़ी संभावना थी। उस समय वल्लभी संप्रदाय के संदर्भ में नंददास और रसखान ऐसी कृष्णभक्ति की कविता रच रहे थे जो 'रीति' साहित्य की कोटि के अंदर भी आती है; राधावल्लभी संप्रदाय के संदर्भ में प्रेमदास सीधे तौर पर गोपियों के वर्णन के माध्यम से नायिका-भेद लिख रहे थे (देखें HSS 5706 प्रेमदास का 'प्रेमसागर')। रामभक्ति के क्षेत्र में रामचरणदास तथा उनकी स्वसुखी शाखा के अन्य कवि, जीवाराम तथा उनकी तत्सुखी शाखा के अन्य कवि और ध्रुवदास तथा उनके रसिक संप्रदाय के कवि शृंगार और 'सखीभाव' को लेकर दरबारी वर्ग के लिए अलंकारों से भरा हुआ रामकाव्य रच रहे थे। इन संप्रदायों के बाहर भी केशवदास, बिहारी आदि 'दरबारी' कवि कृष्ण और राम को लेकर ऐसी रचनाएं लिख रहे थे जो 'भक्ति' और 'रीति' दोनों

ही कोटियों में आती हैं। इस शोध के प्रसंग में मुझे 19 ऐसे हस्तलिखित 'भक्तिग्रन्थ' मिले हैं जो विषयवस्तु, स्वरूप या रचनाकार के आधार पर 'रीति' शैली से जोड़े जा सकते हैं : RORIJOD 16283(7),18042NPS905/ख, 1543,1611,348,53,1375ग, 807ग, 905घ, 2013,11828(2), RORIJAI 9512(1),9480(8),2415,6968(109), HSS 5706,3614,3581.

1700ई. के बाद मुगल साम्राज्य की शक्ति बहुत तेजी से घटने लगी और नये क्षेत्रीय राजा तथा सामंत अपने-अपने दरबार स्थापित करने लगे। फिलिप लुटगेंडोर्फ के अनुसार मुगल दरबार से अलग अपनी 'हिन्दू' विचारधारा और दरबारी संस्कृति का निर्माण करने के प्रयास में इन क्षेत्रीय शासकों ने 'रामचरितमानस' का सहारा लिया :

> ''बुन्देलखंड के छत्रसाल (मृत्यु 1729ई.) और बनारस के बलवंत सिंह (1740-70ई.) जैसे महत्वाकांक्षी शासक अपने अधिराजों से अपनी स्वतंत्रता प्रदर्शित करने की अधिकाधिक कोशिश करते थे और इसके लिए एक तरफ वे पंरपरागत प्रणाली द्वारा निर्धारित (सम्राज को) मालगुजारी देने से इंकार करते थे और दूसरी तरफ मुगल संस्कृति को उखाड़कर उसके स्थान पर शुद्ध हिन्दू विचारधारा तथा प्रतीक व्यवस्था विकसित करते थे। अपने शासन को प्रमाणित करने के लिए तथा अपने अधिकार का संवर्द्धन करने के लिए उन्होंने एक पुराने राजनैतिक-धार्मिक आदर्श का सहारा लिया, जो अलौकिक राजा के मनुष्य रूपी अवतार राम और उनके राम राज्य पर केन्द्रित था-यह आदर्श क्षेत्रीय भाषा के महाकाव्य में प्रतिभाशाली ढंग से अनुदित किया गया था। 18वीं सदी के आखिरी दौर तक इस क्षेत्र के बहुत सारे दरबार 'रामचरितमानस' के आश्रय और भाष्य के केन्द्र बने थे, जो अक्सर अयोध्या और चित्रकूट में शक्तिशाली रामानंदी साधू वंशों के साथ निजी संबंध रखते थे।''[27]

लुटगेंडोर्फ बताते हैं कि जब ये क्षेत्रीय शासक 'रामचरितमानस' में रुचि लेने लगे, तब ब्राह्मण समाजों में भी 'मानस' में रुचि बढ़ने लगी। बहुत तजी से ब्राह्मण समुदाय से 'रामचरितमानस' के बहुत से विद्वान और विशेषज्ञ सामने आने लगे और इन विद्वानों ने दरबारों के सहारे 'रामचरितमानस' के भाष्यशास्त्र की परंपराएं स्थापित कर दीं।[28]

इसके साथ 19वीं सदी की शुरुआत से ही बनारस के राजा 30 दिन के 'रामलीला' नाटक को आश्रय देते थे। साधारण जनता के बीच एक खास सामाजिक विचारधारा से संबंधित मूल्यों का प्रसार[29] करने के अलावा ये रामलीला नाटक-खासकर रामनगर में प्रदर्शित रामलीला-दो धरातलों पर राज्यसत्ता का प्रदर्शन होते हैं : नाटक की वस्तु के आधार पर वर्तमान 'लौकिक' राजा के शासन को रामराज्य के आदर्श से जोड़ा जाता है और प्रदर्शन के स्तर पर पूरी घटना राजा की शक्ति का प्रदर्शन

बन जाती है-राजा रामलीला के खर्च का इंतजाम करते हैं; वे हर रात बैंड, घोड़ागाड़ी, 'कैडिलक' कार और हाथियों के साथ जुलूस में आते हैं; उनकी उपस्थिति के बिना नाटक शुरू नहीं हो सकता; रामलीला के आखिरी दिन वे अपने किले में अभिनेताओं को भोजन कराते हैं और उनके साथ मंच पर बैठते हैं- इस प्रकार वे खुद नाटक के 'पात्र' बन जाते हैं।[30]

इस तरह राज्यसत्ता के साथ 'सगुण' कृष्णभक्ति और रामभक्ति की परंपरा का एक खास संबंध बना। कुछ समय बाद दरबार के संदर्भ में शास्त्रीय परंपरा की हर शैली भक्तिभाव के संप्रेषण का माध्यम बन गई— चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्यकला इत्यादि। 'सगुण' भक्ति परंपरा में आख्यानपरक शैली की प्रधानता तथा पौराणिक और शास्त्रीय परंपराओं के साथ उसके संबंध की वजह से यह खास रिश्ता विकसित हुआ, जो 'निर्गुण' परंपरा के संदर्भ में संभव नहीं था।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि 'निर्गुण' संप्रदाय सामाजिक-राजनैतिक सत्ता नहीं चाहते थे। राज्यसत्ता के साथ उनका संबंध अलग किस्म का था- लेकिन था जरूर। मध्यकाल में साधू संप्रदाय अपने सैन्यीकृत उपसंप्रदाय रखते थे- इन सैन्यीकृत उपसंप्रदायों का प्रयोजन था संप्रदाय की आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव क्षेत्र[31] और एक खास भौगोलिक क्षेत्र में उसके आर्थिक हितों की रक्षा करना।[32] मध्यकालीन उत्तर भारत में तीर्थयात्रा के रास्ते और व्यापार के रास्ते एक थे- अक्सर साधू संप्रदाय इन रास्तों पर यात्रा के प्रवाह और व्यापार के प्रवाह दोनों का नियंत्रण करते थे। वस्तुतः जब ईस्ट इंडिया कंपनी के लोग उत्तर भारत में आए तो वे संन्यासियों को-खासकर गोसाइयों को-देश के सबसे कुशल व्यापारी मानते थे।[33] इस कार्य की वजह से इन संप्रदायों और राजा के बीच कभी-कभी टकराव भी होते थे : पिंच और हॉर्स्टमान बताते है कि 18वीं सदी के पहले दौर में जयपुर के महाराजा जयसिंह द्वितीय ने अपने राज्य में व्यापार पर वैष्णव संप्रदायों के प्रभाव को खत्म करने के लिए इन संप्रदायों के वादा-पत्र मांगे कि वे हथियार रखना छोड़ दें।[34] इस प्रकार कुछ वैष्णव संप्रदाय राज्यसत्ता से इतर एक अन्य सत्ता बनने का प्रयास करते थे। क्या निर्गुण संप्रदाय भी ऐसे सत्ता केन्द्र बनने के प्रयास में थे?

राज्यसत्ता के साथ दादूपंथ, सत्यनामी संप्रदाय, कबीरपंथ इत्यादि 'निर्गुण' संप्रदायों का संबंध अनिश्चित था और लगातार बदलता रहता था। 18वीं सदी में जयपुर राज्य में दादूपंथ के अंदर एक सैन्यीकृत उपसंप्रदाय था, जिसके साधुओं को 'नागा' या 'सुंदर सेना' कहा जाता था।[35] 'सुंदर सेना' के साधू राजपूत जाति से आते थे- वे अपनी गुरु-शिष्य परंपरा का आरंभ सुंदरदास से मानते थे,[36] जिन्हें वे राजपूत राजकुमार मानते थे। मंगलदास के ग्रन्थों के आधार पर जेम्स हेस्टिंग्ज बताते हैं कि ये योद्धा-साधू अपने आप को एक साथ राजपूत योद्धा और दादूपंथी साधू मानते थे और इस विचारधारा का प्रभाव पूरे दादू संप्रदाय पर पड़ा।[37] निश्चय ही 18वीं सदी के राजस्थान की अनिश्चित और कभी-कभी खतरनाक स्थिति के संदर्भ में ये 'नागा' साधू दादू संप्रदाय के आध्यात्मिक और आर्थिक हितों का संरक्षण करते थे। दूसरी तरफ जयपुर राजमहल के पोथीखाने में दादूपंथ तथा अन्य 'निर्गुणी' हस्तलिखित ग्रन्थों की बड़ी संख्या यह बताती है कि जयपुर के राजा दादूपंथ में रुचि रखते थे। और संभवतः समय-समय पर उनका संबंध सहयोगपरक भी हुआ करता था। 'निर्गुण' परंपरा में इसी

संप्रदाय के सैन्यीकरण का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण सिख संप्रदाय है : 17वीं सदी में सिख समुदाय मुगल साम्राज्य के सबसे शक्तिशाली दुश्मनों में से एक था। यहां पर सिख खालसा के जटिल और विस्तृत इतिहास में जाना संभव नहीं; शायद इतना कहना पर्याप्त होगा कि सिख खालसा की 'निर्गुण भक्ति परंपरा' सत्ता के प्रति एक अत्यंत जटिल और सूक्ष्म दृष्टिकोण का उदाहरण है; जो एक तरफ रज्यसत्ता को चुनौती देता है और दूसरी तरफ उसके विकल्प में एक 'निर्गुण' धर्मतंत्रीय समाज का प्रस्ताव रखता है।

राज्यसत्ता के प्रति निर्गुण परंपरा के संप्रदायों के दृष्टिकोण में अनिश्चितता और विविधता दिखाई देती है, फिर भी उसमें दो बातें स्पष्ट हैः 1.) राज्यसत्ता के साथ 'निर्गुण' संप्रदाय उतना निजी संबंध नहीं रखते थे, जैसा 'सगुण' संप्रदायों का था। जहाँ 'सगुण' संप्रदाय अक्सर दरबारी संस्कृति की निर्माण प्रक्रिया में भाग लेते थे, वहाँ 'निर्गुण' संप्रदाय आमतौर पर राज्यसत्ता से दूर कर खुद एक वैकल्पिक सत्ता केन्द्र बनने की कोशिश करते थे। स्पष्टतौर पर राज्यसत्ता के प्रति इन दो दृष्टिकोणों के भेद की वजह इन संप्रदायों के सामाजिक आधार में मौजूद भेद था।

निर्गुण–सगुण विभाजन : एक अवधारणा की वास्तविकता

उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों, ऐतिहासिक दस्तावेजों तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर हम मोटे तौर पर कह सकते हैं कि मध्यकालीन उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन में दो स्थूल परंपराएँ थीं, जिनकी अपनी-अपनी विचारधारात्मक, विमर्शपरक एवं सामाजिक विशेषताएं थीं; परंतु इन दोनों परंपराओं का संबंध स्थिर नहीं था- वस्तुतः इनका संबंध खास ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता था। जहां भक्ति आंदोलन के आरंभिक दौर में 'निर्गुण' और 'सगुण' परंपराएं पारगम्य (Permeable) अनिश्चित और तरल थीं तथा उनका संबंध पारस्परिक था, वहीं 1600ई. के बाद इन दोनों परंपराओं का भेद ज्यादा स्पष्ट निश्चित और स्थिर हो गया। इस दौर में उत्तर भारत में अलग-अलग भक्ति संप्रदायों के बीच अपर्याप्त संसाधनों के लिए घोर प्रतिद्वंद्विता चल रही थी; इन दुर्लभ साधनों पर कब्जा करने के लिए संप्रदायों ने विभिन्न विमर्शपरक उपकरणों तथा सामाजिक व्यवहारों को अपना लिया। हालांकि आमतौर पर 'सगुण' संप्रदाय सामूहिक सगुण अस्मिता का प्रयोग नहीं करते थे, फिर भी उनके बीच कुछ साझा तत्व थे जिन पर सगुण भक्ति विमर्श आधारित था और जिसे लेकर एक स्थूल 'सगुण' भक्ति परंपरा की रूपरेखा की कल्पना की जा सकती है। सगुण भक्ति विमर्श के केन्द्र में आख्यानपरक शैली थी; इस शैली के माध्यम से 'सगुण' संप्रदाय अलग-अलग प्रकारों की शास्त्रीय तथा लोक कलाओं- नाट्यकला, चित्रकला, नृत्यकला इत्यादि- के साथ अपनी विचारधाराओं को जोड़ देते थे। उन्होंने इन कलाओं के जरिए दरबारी संस्कृति के साथ भी अपनी भक्ति परंपरा को जोड़ा। इस प्रकार राज्यसत्ता और कुछ सगुण संप्रदायों के बीच एक निजी संबंध विकसित हुआ। इसके साथ ही इस दौर में सगुण संप्रदायों ने 'निर्गुण' भक्त और संप्रदायों के प्रति अपना दृष्टिकोण बदल दिया। आरंभिक

काल में वे सामान्यतया अपने सभी परिचई साहित्य में निर्गुण भक्तों तथा संप्रदायों का समावेश करते थे परंतु बाद के सभी परिचई साहित्य तथा पद-संग्रहों में उन्होंने आमतौर पर निर्गुण भक्तों तथा परंपराओं का बहिष्कार किया। इसके बावजूद आधुनिक काल तक उनके ग्रन्थों में कभी-कभी कुछ 'निर्गुण' कवियों के पद और उल्लेख मिलते हैं।

दूसरी ओर 'निर्गुण' भक्ति परंपरा के संप्रदायों के बीच एक अन्य प्रकार का प्रयास चल रहा था। इन संप्रदायों के विमर्श में न तो आख्यानपरक शैली प्रधान थी और न ही कला की शास्त्रीय परंपरा। ये संप्रदाय आमतौर पर राज्यसत्ता के साथ कोई निजी संबंध नहीं रखते थे; इसके विपरीत वे राज्यसत्ता से दूर रहकर खुद वैकल्पिक सत्ताकेन्द्र बनने का प्रयास करते थे। इसके बाद ही इन संप्रदायों के ग्रन्थकार कबीर, रविदास, धर्मदास आदि की कविता को पुनर्विन्यस्त करते हुए उनके विचारों को एक व्यवस्थित सिद्धांत का रूप देने की कोशिश कर रहे थे, जिसमें वे 'निर्गुण' तत्वों पर बल देते थे और 'सगुण' तत्वों का बहिष्कार करते थे। कुछ कवि- सुंदरदास,पल्टू, रामचरण आदि- एक अनुमानित 'सगुण' भक्ति परंपरा के समानान्तर एक संगठित 'निर्गुण' परंपरा का निर्माण करने की कोशिश भी कर रहे थे। इसके बावजूद व्यवहार के स्तर पर ये संप्रदाय कई प्रकार की परंपराओं को जगह देते थे और इस प्रक्रिया में वे ऐसे कुछ तत्वों और परंपराओं- कर्मकांड, क्षेत्रीय देवी-देवता, ग्रन्थपूजा इत्यादि- को भी अपना लेते थे, जिन्हें हम आज 'सगुण' कहते हैं।

इस प्रकार हम उत्तर मध्यकाल में 'निर्गुण' और 'सगुण' भक्ति की अवधारणाओं, स्वरूपों और उनके संबंधों में बड़े परिवर्तन होते देखते हैं। इस दौर में निर्गुण-सगुण विभाजन की जो अवधारणा थी, वह न तो 1600ई. से पहले के निर्गुण-सगुण विभाजन की अवधारणा से मेल खाती है और न ही आधुनिक काल के विद्वानों के निर्गुण-सगुण विभाजन की अवधारणा से। इतना स्पष्ट कि इस दौर में निर्गुण और सगुण भक्ति के विभाजन की अवधारणा बहुत ही जटिल, सूक्ष्म तथा परिवर्तनशील थी और उसकी विस्तृत तथा गंभीर पुनर्समीक्षा बेहद जरूरी है।

संदर्भ

(1) वसुधा डालमिया- द अदर इन वर्ल्ड ऑफ द फेथफुल, होर्स्टमान (सं.) भक्ति इन द करेंट रिसर्च में संकलित, पृ0-116 (2) रिचर्ड बर्गहार्ट- द फाउंडिंग ऑफ द रामानंदी सेक्ट, डेविड लारेंजन (सं.) रिलीजियस मूवमेंट इन साउथ एशिया, पृ0-233 (3) जनगोपाल-दादू जन्म-लीला, 4.1, 12.24 और 15.13 होर्स्टमान में उद्धृत, पृ0 174-175 (4) मोनिका होर्स्टमान-दादूपंथी एन्थालॉजीज ऑफ एटींथ एण्ड नाइनटींथ, सेंचुरी, भक्ति इन करेंट रिसर्च पृ0-175 (5) सुंदरदास- सुंदर ग्रंथावली, पृ0-82, दोहा 19 (6) वही पृ. 76-79 (7) रिचर्ड बर्गहार्ट- द फाउंडिंग ऑफ द रामानंदी सेक्ट, डेविड लारेंजन (सं.) रिलीजियस मूवमेंट इन साउथ एशिया,

पृ. 244-245 (8) सुदंरदास- सुदर ग्रंथावली, अद्वैत ज्ञान को अंग, पृ. 255 (9) डेविड लारेंजन- ट्रेडीशन्स ऑफ नॉन कास्ट हिन्दुइज्मः द कबीर पंथ, कंट्रीब्यूशन्स टू इंडियन सोशियोलॉजी अंक 21-22,पृ. 275-277 (10) वही, पृ. 276 (11) पलटू साहब-राम कुण्डलियां, बड़थ्वाल द्वारा द निर्गुण स्कूल ऑफ पोएट्री में उद्धृत, पृ0 265 (12) सुंदरदास- सुंदर विलस, बड़थ्वाल में उद्धृत, पृ0 242 (13) नानक- आदिग्रंथ, बड़थ्वाल द्वारा उद्धृत पृ0 179 (14) तुलसी साहब- घटरामायण, बड़थ्वाल द्वारा उद्धृत, पृ0 184, 352 (15) वही, पृ0 184, 197 (16. शार्लोत वाडविल-कबीर, पृ0 15 (17) वही, पृ0 15 (18) डेविड लारेंजन - ट्रेडीशन्स ऑफ नॉन कास्ट हिन्दुइज्म, पृ0 267-268 (19) देखें, रिचर्ड बर्गहार्ट- द फाउंडिंग ऑफ द रामानंदी सेक्ट, विलियम पिंच-रीइन्वेंटिंग रामानंद कास्ट एण्ड हिस्ट्री इन गंगेटिक इण्डिया, पुरुषोत्तम अग्रवाल-इन सर्च ऑफ रामानंद : द गुरु ऑफ कबीर एण्ड अदर्स तथा कबीर और रामानंद : किवदंतियां... (20) बर्गहार्ट-द फाउंडिंग ऑफ रामानंदी सेक्ट, पृ0 239-240 (21) देखें वसुधा डालमिया-द अदर इन द वर्ल्ड ऑफ द फेथफुल, होर्स्टमान (सं0) भक्ति इन द करेंट रिसर्च में संकलि। (22) ऐसे रागमाला चित्र यू.सी. बर्कले के जीन और फ्रेंसिस मार्शल संग्रह में देखे जा सकते हैं। (23) सतीश चंद्र-सोसाइटी, कल्चर एण्ड द स्टेट इन मेडुवल इण्डिया, पृ0 35-36 (24) वही, पृष्ठ 56-57 (25) एलिसन बुश- क्वेश्चनिंग द ट्रुप्स एबाउट 'भक्ति' एण्ड 'रीति', पृ0 43-46. (26) वही, पृ0 46-47. (27) लुटगेंडोर्फ- द क्वेस्ट फॉर लिजेंडरी तुलसीदास, पृ. 75-76 (28) वही, पृ0 75-76 (29) इस प्रसंग में देखें-'द पोएट, द पिपुल एंड द वेस्टर्न स्कॉलर.... पृ0 236-253. (30) अनुराधा कपूर-ऐक्टरर्स, पिलग्रीम्स, किंग्स एंड गॉड्र्स; द रामलीला एट रामनगर, पृ0 68-70, इसके अतिरिक्त लुटगेंडोर्फ- द व्यू फ्रॉम द घाट्स : ट्रेडिशनल एक्सीजस ऑफ ए हिन्दू एपिक, पृ0 283-285 भी देखें। (31) बर्गहार्ट- वांडरिंग एस्केटिक्स ऑफ द रामानन्दी सेक्ट, पृ0 373-375 (32) कॉन- द रोल ऑफ गोसाईंज इन द इकॉनॉमी ऑफ एटीन्थ एंड नाइनटीन्थ सेन्चुरी अपर इंडिया,पृ0 175-182 (33) विलियन पिन्च- पीजेन्ट्स एंड मोंक्स इन ब्रिटिश इंडिया, द्वितीय अध्याय (34) विलियन पिन्च- पीजेन्ट्स एंड मोंक्स इन ब्रिटिश इंडिया तथा हॉर्स्टमान- वारियर एस्केटिक्स इन एटीन्थ सेन्चुरी राजस्थान एंड द रिलीजियस पॉलिसी ऑफ जयसिंह सेकेण्ड (अप्रकाशित निबंध) (35) हेस्टिंग्ज- पोएट्स एंड वारियर्स : द दादूपंथ रिलीजियस चेंज एंड आइडेंटिटी फॉर्मेशन इन जयपुर स्टेट (36) वही (37) वही

सृजन–भूमि

यह पहचानना कि 'घृणा एक अवसाद है/ जो भीतर जमता जाता है/ धीरे–धीरे/ जैसे कि ताँबे की लुटिया पर/..... भद्दा..... फ़ीरोज़ी चकत्ता' और महसूस करना कि 'दूर किसी घर में कुछ गिरा है/ पीतल की गगरी–सा' और फिर यह सुनना कि 'शंकुतला मुझसे कल बोली/ मछली के पेट की अंगूठी/ मेरा पहचान–पत्र क्यों होती?'– / यह सब किस तरह आज कविता में संभव है, जानिये यहाँ अनामिका की तीन कविताओं से।

हरिओम ने एक लंबी कविता विदर्भ–क्षेत्र (औरंगाबाद, बुल्डाणा) के अपने एक माह के प्रवास के दौरान वहां के किसानों की दशा को बहुत आत्मीयता से देखते हुए लिखी–'ज़िंदगी कपास'! किसानों की आत्महत्या को सिर्फ खबर की तरह पढ़ने के विरुद्ध अपनी संवेदना में उतरता पाते हुए महसूस कीजिए तो सुनाई पड़ेगी यह आवाज़–'हमारे पास विकल्प तो एक ही छोड़ा है तुमने/ कि कपास के गट्ठरों की तरह/ हम भी लद जाएँ तुम्हारी मालगाड़ियों पर/ और तुम्हारे कारखानों और दूकानों में/ खप जाएं बासी सूत की तरह/ बेआवाज़, बेमोल!'

कैलाश बनवासी–'बाज़ार में रामधन' जैसी चर्चित कहानी के लेखक–यहाँ अपने लिखे जा रहे उपन्यास की एक बानगी दे रहे हैं।

अनामिका

हत्या

सुबह मैं नहीं पढ़ती अखबार,
रात को मुँह छुपा लेती हूँ उससे!
कहीं एक हत्यारा
मुझमें छुपा है ज़रूर,
कभी-कभी वह मेरे सपनों की कुंडी
खटकाता है,
बैठते है चुकू-मुकू पास आकर
और मच्छर हाँकता मुझसे
करता है रात-भर जिरह-

'हत्या कभी भी अचानक नहीं होती!
घृणा एक अवसाद है
जो भीतर जमता जाता है
धीरे-धीरे
जैसे कि ताँबे की लुटिया पर
ये देखो ये-ये चकत्ता,
भद्दा, फीरोजी चकत्ता।'

मैं उससे लड़ती हूँ,
पानी से, मिट्टी से,
धीरज से, कौशल से
माँजा नहीं जाता ताँबा क्या?'
लेकिन वो सुनता नहीं, सिर्फ़ कहता है,

'सब अधूरी कामनाएँ
अँगरेजी राज के
किसी ठगों की तरह
आपको कुठौर घेर लेती हैं
और माँगने लगती हैं चुंगी!
जंगल का सबसे छोटा रास्ता जानती हैं ये!
धैर्य की सरहद के पार
हो जाती हैं चुटकियों में!
हत्यारा है राजा
और सभासद हत्यारे हैं,
हम क्या, हम किस्मत के मारे हैं?
गिरफ़्तार पानी हैं हम—
छोटे बरतन में गिरफ़्तार!
बास मारते हैं, ज़हरीले हैं,
चाहते हैं, बह निकलना पर
कैसे बहें
क्या करें।

बह जाना या बह निकलना
कई बार वश में नहीं होता है आपके?
यदि आप बरतन में गिरफ्तार हो ही गये।
गिरफ़्तार माने गिरफ़्तार।सल
अब तो कोई और आए,
थोड़ा-सा आपको झुकाए,
थोड़ा-सा पी जाए, थोड़ा बहाए
आपको
आपकी
सरहद के बाहर

तो बात बने?
मैंने फिर कुछ नहीं कहा,
मूँद लीं आँखें!
अख़बार से मुँह छुपाए।

डिप्रेशन कोण

थोड़ी-सी तकलीफ़, थोड़ा-सा गुस्सा,
आपत्तियाँ ढेर सारी,
'आपत्तियों', में भी होती हैं कुछ 'पत्तियाँ',
जैसे 'हताशा' की गोदी में होती है आशा!
पर मेरी गोदी में क्या?
मोह-सी मुनिया!
बौद्ध ग्रंथ कहते हैं नरककुंड इसको
और डॉक्टर कहते हैं मन की क्षुद्रतम दशा,
मरघट वैराग्य इसे कहते हैं ज्ञानी
और योद्धा निरी कायरता!
मैं क्या कहूँ इसको
ये मेरे पेट की जाई,
लिपट-लिपट जाती है मुझसे
जब-तब लरजकर करती है--
माई-माई
नाक रगड़ देती है गालों से,
पढ़ने में मन नहीं लगाती, पर अच्छी है।
कुछ भी हो, मेरी ही बच्ची है।

नदियाँ

दूर किसी घर में कुछ गिरा है
पीतल की गगरी-सा!
लुढ़कती चली आई है टुनटुनाहट
सूनी दोपहरी में
कई देहलियाँ लाँघकर!
आवाज़ की एक नदी बह गई है।
इस घर से उस घर तक!

इसमें धोकर अपने थके हुए हाथ
सोचती है यह उसकी
चौंकी हुई उबासी—
हर घर से हर घर तक जाती है राह,
इतना अकेला नहीं होता है आदमी!
एक गूँज का दामन पकड़े
अनुगूँजे कितनी चली आएँ कब भीतर—
कौन कहे!
क्या जाने कौन-कहाँ-कहाँ-कब का खोया
किस रूप-रस-गंध-ध्वनि की ऊँगली पकड़े आ जाए मिलने, कहे--
कहो, पहचाना? कैसे हो?

नहीं, नील नदी नहीं, मिसीसिपी भी नहीं,
नहीं वोल्गा,
दुनिया की सबसे प्रशस्तमन नदी है
प्रतीक्षा।
नदियों की आँखों ने क्या-क्या देखा है,
देखे हैं भँवरों की बाँहों में नाचते हुए सार्थवाह
और उधर तट पर
आकाशदीप बालती उनकी प्रेयसियाँ
सदियों से
प्यास भी एक नदी है वैसे,
एक विलम्बित प्यास—
बालू के भीतर भीतर बहती
ले जाती है हमको कहाँ से कहाँ!
दुनिया की सब सभ्यताएँ
प्यास के तट पर बसीं!
सौदागर मोतियों से जहाज़ भरे हुए
आमरण भटकते रहे
एक प्यास से दूसरी तक!

कहते हैं, एक नदी में दूसरी बार
पड़ता नहीं कोई जाल!

मछुआरे जब तक पहुँचते हैं--
शाम से अगली सुबह तक के बीच
नदियाँ हो जाती हैं नई-नई,
बह चुका होता है सब पुराना पानी,
बह जाता है सब आनी-पानी-
ऋतुमतियों- जैसी प्रगल्भ और कटी-कटी
रहती है रात को नदी-
करवटें बदलती हुई!
बह जाती हैं सारी स्मृतियाँ सपनों में,
अवचेतन में डूब जाते हैं सारे नैवेद्य
और चाँद-तारे!
सुबह किसी भूले हुए स्वप्न सी
उठ जाती है आँख मलती हुई!

विस्मृतियाँ भी हैं नदी शायद
बोलो, तुम्हीं बोलो, है कि नहीं?
शकुन्तला मुझसे कल बोली-
मछली के पेट की अंगूठी
मेरा पहचान-पत्र क्यों होती।
भरत के पिता के जो साथ गई,
वह भरत की माँ रही होगी,
मैं तो नहीं थी!
एक नदी में दूसरी बार
पड़ता नहीं कोई जाल,
मैं भी थी एक नारी
स्मृतियाँ - विस्मृतियाँ—
प्यास और प्रतीक्षा की
एक उद्दाम लहर--
एक अनन्त से
दूसरे अनन्त तक
उद्भ्रांत-सी
घूमती!

हरिओम

ज़िन्दगी कपास

(1)

तुमने जो दी थी
यह पहाड़ जैसी ज़िन्दगी
उसे खुरच-खुरचकर
बनाए हैं हमने ये खेत

तुमने जो दिया था
सागर जितना दुःख
उसे उलीच
सींची है हमने
ये हज़ार योजन धरती
तुमने नहीं दिए थे सपने
वो हमने ही बोए हैं
असंख्य रातों की
जागी हुई आँखों में

अब तो चूर हो गई हैं हड्डियाँ
धमनियाँ हो गई हैं सुस्त
और त्वचा भी ठंडी ही हो चली है
मगर सोचता हूँ

कि चैन से सोने से पहले
एक बार देख लूँ
आँख भर
खिली हुई कपास

(2)

ये जो धरती है
सूखी पटी पड़ी
दर्द के बेहिसाब कंकड़ों से
जली घास
मुरझाई हुई झाड़ियों
और बेरौनक़ पेड़ों की
उदास टहनियों से
जिनपर शायद ही बैठता हो
कोई सुग्गा हरा
लाल मिर्च जैसी तीखी चोंच वाला मिट्ठू
या गाती हो काली मैना कोई
विरह का शोक गीत

यह वही जगह है
जहाँ हमारी नस्लों को
जीना है
प्यास से भीगे हुए होठों के साथ
तकते हुए
गर्म आकाश की
वीरान छतें

जबकि उन्हें मालूम है
कि यहाँ आसमान
बरस में उतना भी नहीं बरसता,
जितना बरसती हैं उनकी आँखें

और यह भी
कि ओस और बारिश की बेशुमार बूँदे भी
नहीं दे पातीं
इस मिट्टी को
कोई नया रंग, नई गंध
जो छीन ले उसका कालापन
खिला सके उसका रूप

तुम अगर
कपास के मुस्कराते मौसम के पहले या बाद
कभी देखो इस मिट्टी को
तुम्हें यक़ीन नहीं होगा
कि इसी काली कोख से
पैदा होती है
सफ़ेद मुलायम और सुनहरी कपास
और कुछ दिनों के लिए ही सही
खिलखिलाती है यह धरती।

(3)

तुमने हमारे हिस्से
रख छोड़ी है कितनी दीवानगी
और कैसा बेगानापन
अगर ज़िन्दगी से
न होता हमें इतना प्यार
तो हम नहीं खोद पाते
अपनी किस्मत का सजल कूप
तैयार कहां कर पाते
सब्जियों से जगमगाती
हरी-भरी क्यारियां
सोच भी नहीं सकते थे
मीठे-लाल तरबूजों के बारे में

जो रेत को सिखाते हैं भीगना
और बेरंग सपनों को
सिखाते हैं सूर्ख होना

अगर हम सचमुच बैठे रहते
तुम्हारे कोरे आश्वासनों
और अपनी बेईमान नियति के भरोसे
तो आत्महत्याओं का ये सिलसिला
शायद कभी न थमता
हमारी बेज़ार बस्तियों में
और तुम यूँ ही
उलझे रहते आंकड़ों में
सच के आगे लिखते
निर्मम सफ़ेद झूठ

(4)

अब लहराने लगे हैं
कपास के कोमल तने
जो जमे हैं
हमारी हथेलियों पर
और देखते ही देखते
निकल गए हैं
हमारे कंधों के ऊपर
अब तुम डाल दो
हमारे खेतों और बस्तियों के चारों ओर
अपने जाल, अपने घेरे
तुम तैयार कर लो अपने बिचौलिए
अपनी मशीनें और कारखाने
बस थोड़े ही दिनों में
महकने लगेंगे
कपास के पके हुए फूल

ठीक वैसे ही
जैसे महकती हैं
हमारे पसीने की बूँदे

हम जानते हैं कि
दहकती धूप की छाती पर चढ़
उगाई है हमने
जो ये कीमती हरियाली
उसे तुम लूट ले जाओगे
कौड़ियों के मोल
करते हुए
अपनी उदारता और करुणा का
पाखंड-पाठ

बस पलक मारते
तुम बाँध ले जाओगे
हमारी बेहिसाब मेहनतों की गाँठें
अपनी मालगाड़ियों पर
और हम रह जायेंगे बिसूरते
अपनी जीभ पर रखे
ज़िन्दगी का एक चुटकी नमक
और हाथों में थामे
सब्र की चन्द रोटियाँ

हम जानते हैं
कि तुम्हारी सौदागरी
एक बार फिर
छोड़ जायगी
हमें नाउम्मीदी के घने धुंधलकों के बीच
जहाँ पूरी नहीं होगी
उजले पलों की तलाश
नसीब नहीं होंगी सकून की
निश्चिंत साँसे

हमारे पास
विकल्प भी तो एक ही छोड़ा है तुमने
कि कपास के गट्ठरों की तरह
हम भी लद जायँ तुम्हारी मालगाड़ियों पर
और तुम्हारे कारखानों और दूकानों में
खप जायें बासी सूत की तरह
बेआवाज़ बेमेल

अन्यथा नमी के बिना
दम तोड़ती इस धरती को छोड़
हम जायँ भी तो कहाँ
अब इन धूल भरी आँखों से तो
चारों तरफ़
हज़ार कोस तक
नहीं दिखता कोई पड़ाव
हमारे लिए तो
अजंता और एलोरा की गुफ़ाओं में भी
नहीं है सर छिपाने का ठौर

वहाँ तो भगवान शिव, महावीर और महात्मा बुद्ध
पहले से ही छिपे हुए हैं
और पिछले हज़ार सालों से
नहीं निकले हैं बाहर

शायद हमारे दुखों का
वर्तमान समय में
उनके पास भी नहीं है
कोई समाधान

(5)

इस विपन्न समय में
हम जिसे मानते हैं ज़िन्दगी
उसे तुम समझते हो माल
और जिसकी क़ीमत चुका
तुम कितनी सहजता से
बन गए हो
हमारी ज़िन्दगी के मालिक
अब तुम निचोड़ लो
कपास के सुन्दर फूलों से सूत
बनाओ रेशमी धागे
अपने विशाल करघों पर
तैयार कर लो
आकर्षक डिज़ायन वाले
मँहगे वस्त्र
चमाचम कुरते
लकदक धोतियाँ, साड़ियाँ रत्नजड़ी
तुम बना लोगे
गाँधी और गोलवलकर की टोपियाँ
श्रीरामनामी अंगवस्त्रम्
अंगरखे और पटुके
जिसे पहन तुम सोचोगे
इस देश के बारे में भी
किन्तु सबसे पहले यह
कि काश!
यह देश होता कपास की तरह
जिसे तुम खरीद सकते घर बैठे
सस्ते-से-सस्ता

कपास के अगले मौसमों में
जब तुम फिर आओगे

हमारे बीच
हमारी दुश्वार ज़िन्दगी की
चिंताओं का ढोल पीटते
तो हमारे पास
नहीं होगा कोई चारा
सिवाय इसके कि
हम देखें
तुम्हारे बदन पर खिली हुई कपास
और अपने बदन पर
सूखकर कठोर हो गई काली मिट्टी

हमारे-तुम्हारे बीच होगी
अजनबीयत की
एक गाढ़ी परत
हम तुम्हें पहचान कर भी
कह नहीं पाएँगे कुछ
और तुम हमें न पहचानते हुए भी
बस बोलते और मुस्कराते जाओगे।

सच भी एक सपना हो जाता है

कैलाश बनवासी

'अगर मैं शादी करूँगा तो केवल और केवल उर्मिला से!'

मैं महज ग्यारह बरस का था, सरकारी स्कूल 'सुभाष प्राथमिक शाला' में पांचवीं में पढ़ने वाला, जब मैंने ऐसा सोचा था। नहीं, ठीक इसी भाषा में मैंने नहीं सोचा था, लेकिन सोचा यही था। और ऐसा सोचने की वजह हमारा मुहल्ला डिपरापारा था जहाँ लड़के-लड़कियों के भागने और शादी करने का मौसम चल रहा था। बड़े जोर-शोर से। और इस मौसम के मुताबिक मुझे भी अंततः किसी न किसी के साथ भाग ही जाना था। तब उर्मिला के अलावा मैं भला किसी और के साथ भागने की सोच भी नहीं सकता था। क्या हुआ जो वह मुझसे कोई चार साल बड़ी है, पर सबसे अच्छी! मुहल्ले की मेरी कई हम उम्र लड़कियों मंजू, अनीता, आरती, ऊषा वगैरह से सबसे अच्छी!

उर्मिला का घर हमारे घर के पास ही था, वैसे ही नाले के किनारे जैसा हमारा घर। हमारे उसके घर के बीच एक बड़ी छूटी हुई जगह थी, जिस पर बेशरम का घना जंगल था, यह जंगल हमारे गुप्त अनैतिक षडयंत्रों का अड्डा था। उसके पार उर्मिला का घर। हमें उसके घर सड़क से ज़रा घूमकर जाना पड़ता था। हम वहां खेलने जाते। हम मतलब मैं, मेरे कुछ दोस्त नंदू, अशोक और दीदी गौरी और उसकी कुछ सहेलियाँ, सब आस-पास के। कुछ देर खेलते और लौट आते। गौरी और उसकी सहेलियाँ खुद भी घर-घर वाला खेल खेलतीं जिनमें भागना-दौड़ना नहीं होता, जबकि हम लड़के भौंरा, बैटी, डंडा- पचरंगा, रेसटीप। ये हमारे सामान्य दिन या बीच की एकाध छुट्टी के दिनों में होता था।

पर पिछली गर्मी से कुछ बदलाव हो चला था।

होने यह लगा था कि गर्मी की छुट्टियों के दिनों की सुबह मैं अपने संगी-साथियों के साथ खेल लेता था। इसके बाद घर आकर नहाने खाने के बाद, जाने क्या था मैं उर्मिला के घर ही चला जाता। गौरी जाए यह भी कोई ज़रूरी नहीं था। और वैसे भी उर्मिला उसकी पक्की सहेली नहीं थी। उसकी पक्की सहेली सुरेखा थी जो उसके साथ पढ़ती थी छठवीं में।

उन दुपहरियों में उर्मिला का घर मेरा अड्डा था।

और अक्सर उसके घर में बस हम दो ही होते थे। आपस में ही साँप-सीढ़ी या लूडो खेलते, या बातें करते या पुस्तकें पढ़ते। उन दिनों तरुण टाकीज के पास कपिल के पिताजी की बुकस्टाल से दस पैसे प्रति पुस्तक रोज के किराए से रोचक कहानियों के पतले पॉकेट बुक्स लाया करता था, जिनमें राजा-रानी, भूत, डायन, जादुई छड़ी या जादू की कालीन या करामाती पेड़ की कहानियाँ होती थीं।

उर्मिला घर के काम के कारण नहीं पढ़ पाती तो मैं कहानी बताता था। या जो किताब मैंने नहीं पढ़ी, उसकी कहानी वह बताती।

उर्मिला का घर हर लिहाज से हम लोगों के खेलने-कूदने का आदर्श घर था। घर खपरैल की छानी वाला ही था। दो छोटे-छोटे कमरे, कमरे के आगे परछी, और परछी के छोटे दरवाजे के आगे खूब बड़ा आँगन। आँगन भी कुछ दूर तक पक्का था, सीमेंट का। उसके आगे जो ढलान थी वह आगे नाले में ख़त्म होती। इस ढलान में ही कुछ पेड़ थे, आम, बेर, अमरूद के। आँगन के आगे इन पेड़ों का होना था, जिससे घर दोपहर की गर्मी में भी ठंडा लगता था। दूसरी ओर शायद सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि यहाँ हमें कोई रोकने-टोकने वाला नहीं था। घर पर मानो हमारा ही राज होता-जब तक हम होते। हमारे लिए यही सबसे बड़ा सुख था। जो खेलना है खेलते रहो!

उर्मिला के बाबू और दाई (माँ) सुबह आठ नौ बजे ही अपने काम में निकल जाते। काम? दोनों ही शहर में घूम-घूमकर सिर पर टुकना बोहे चना-मुर्रा बेचते थे। सिर पर पुराने-धुराने कपड़े को गोल मोड़कर गुड़री बनाते, उसके ऊपर चना-मुर्रा का टुकना और टुकने को ढकने के लिए पर्रा। टुकना और पर्रा, बाँस के बने होते। दोनों शहर के अलग-अलग इलाकों में निकल जाते, और गलियों में हाँक लगाते फिरते-ले चना मुर्रा लाडू ले! ले चना मुर्रा!

और उर्मिला का भाई अलख था सत्रह-अठारह साल का। वह गंजपारा की राइस मिल में मजदूरी करने जाता था। अलख भी तीसरा से ज्यादा नहीं पढ़ पाया था। पढ़ाई में कमजोर और घुमाई-फिराई में उस्ताद। घुमक्कड़ राम था। पढ़ाई छोड़ने के बाद वह अब तक अपने दोस्तों के साथ घूमता ही तो रहा था। तालाब से मछलियाँ पकड़ना, या दो-दो घंटे तक मुहल्ले के मंदिर वाले कुएँ में कूद-कूद कर नहाना, या टाकीजों के आस-पास घूमते रहना।

मुहल्ले के लोग-अलख को ठुठवा के नाम से जानते थे। उसके बाएँ हाथ की चार उंगलियाँ नहीं थी, केवल अँगूठा था। कुछ साल पहले दीवाली के दिन कोई बड़ा बम 'दनाका' फोड़ते समय वह दुर्घटना का शिकार हो गया। उसे लगा था। शायद बम की रस्सी में आग नहीं लगी है, या लगी आग बुझ गई है। क्योंकि रस्सी की आग ने सुरसुराना बंद कर दिया था, वह बम को हाथ में लेकर उलटने पलटने लगा था, तभी.....।

घर में हर साल दीवाली में माँ हमको अलख की याद दिलाती, 'देख के फटाका जलाना नहीं तो अलख जैसे ठुठवा हो जाओगे!' जब भी मैं उसके बाएँ हाथ को देखता, उस दुर्घटना की याद आ जाती, भय से सिहर-उठता-उफ! कैसी भयानक तकलीफ हुई होगी! और मन ही मन तय हो जाता

कि कभी भी बड़े फटाके नहीं फोड़ने हैं! पर मुहल्ले के लड़के कहाँ मानते हैं? वे तो आज भी बड़े ज़ोर की आवाज वाले बम फोड़ने में अपनी शान समझते हैं। ख़ासकर पंजाबी लड़के। ये आज़ाद लड़के! मुहल्ला डिपरापारा इन लड़कों के कारण बदनाम है। मार-पीट, लड़ाई-झगड़ा, चोरी और सीनाज़ोरी, सबमें आगे रहने वाले लड़के।

अलख से मुलाकात कम ही हो पाती थी, शायद इसलिए भी उसके बाएँ हाथ को लेकर हम सहज नहीं थे।

उर्मिला तीसरी तक पढ़ी थी।

''मैं तो पढ़ना चाहती थी, पर.....।'' वह कहा करती और उस क्षण उसके चेहरे पर एक छाया सी गिर जाती, जो दुःख और पछतावा का मिला-जुला भाव होता था, सांझ के घिरते अंधेरे की तरह। फिर तत्क्षण वह इस छाया से बाहर भी आ जाती। जैसे अफसोस को स्थायी रखने से क्या फायदा? दुनिया में बहुत सारे हैं जो पढ़ नहीं सके। मैं तो फिर भी पढ़ लेती हूँ।

उर्मिला के पढ़ाई छूटने की एक कहानी थी। कहानी नहीं, घटना। जब तीसरी में पढ़ रही थी तब एक दिन स्कूल की पांडे बहनजी ने उसे किसी बात के लिए मारा, शायद होमवर्क पूरा करके नहीं लाने के लिए, या अपनी बेंच पर बैठी लड़की से बात करने के लिए, या.....। पांडे बहनजी का गुस्सा और पिटाई स्कूल में कुख्यात था, और हर कोई-उससे बचना चाहता था। उनका गुस्सा बेकाबू था। कभी बच्चों की खुली हथेलियों पर खड़ी स्केल बरसाने लगतीं, कभी बच्चे का सिर बाल से पकड़कर दीवाल में ठेल देती। बहनजी के खिलाफ़ कुछ शिकायतें भी हुई थीं, लेकिन कुछ नहीं हुआ। इसका कारण तब हम लोगों ने स्कूल के हेडमास्टर के साथ 'चलना' को माना था, कि वह और हेडमास्टर गुप्ता जी देर-देर तक अपने ऑफिस में बैठे रहते। दरवाज़े का नीला परदा लगा होता और उनके हँसने-फुसफुसाने की आवाज़ पूरा स्कूल सुनता होता, हर कक्षा में हर बच्चे को ये आवाज़ें सुनाई देतीं, और अक्सर बहनजी को एक खास दर्प के साथ हंसते और मुस्कराते हेडमास्टर के केबिन से निकलते देखा करते.....।

जब पांडे बहनजी ने उर्मिला को मारा, गुस्से से अपनी दाँत पीसतीं और चश्मे से आंखों को बाहर निकालतीं, उर्मिला पीड़ा से बिलबिला गई। इस मरखंडी बहनजी के नाम से जानी जाने वाली के लिए उसका गुस्सा भड़क गया, और जब वह सामने बैठकर टेबल पर अपना कुछ काम कर रही थीं, तो उर्मिला ने अपनी स्लेट पट्टी फेंककर दे मारा, और पट्टी बहनजी के सिर पर लगा, जिस गुस्से और गति से उसे फेंका गया था, उतने जोर से लगा। बहनजी का सिर फूट गया और खून बहता पाकर बहनजी रोने-चिल्लाने लगीं, स्टाफ के लोग दौड़कर आए, हो हल्ला मच गया, तब तक उर्मिला को समय मिल गया था अपना बस्ता उठाके कक्षा से बाहर भाग जाने का और भागकर घर आ जाने का....।

इसके बाद वह स्कूल ही नहीं गई। डर के मारे। और गुस्से के मारे। स्कूल से उसने अपना नाता ही तोड़ लिया। हालाँकि उसके बाबू और दाई ने समझाया, चल, हम तेरी तरफ से माफी माँग लेंगे, गुरुजी और बहनजी के हाथ-पैर जोड़ लेंगे। पर उर्मिला नहीं मानी।

पर पढ़ना कहाँ छूटा? वह तो मेरे किराए से लाई पुस्तकें बढ़िया पढ़ लेती है। और बाकी की कमी स्कूल में पढ़ने वाले लड़के लड़कियों के साथ खेल-कूदकर पूरा कर लेती है। और इतना ही नहीं, भले ही उसका स्कूल छूटे सात-आठ बरस हो चुके लेकिन वह घर में आज भी स्कूल ड्रेस ही पहनती है- सफेद कमीज, आसमानी, स्कर्ट। और ड्रेस एकदम साफ-सुथरे। और हमेशा।

शायद इससे उसके लगता रहा होगा कि वह घर में नहीं स्कूल में है, और पढ़ रही है। घर को ही अपना स्कूल बना लिया था उर्मिला ने।

वह चौदह पार कर चुकी थी, लेकिन मुहल्ले की अपनी हम उम्र लड़कियों की तरह साड़ी नहीं पहनती थी। स्कूल-ड्रेस ही पहनती थी।

और दूसरी अजीब बात, उसे लड़कियों वाले खेल पसंद नहीं थे। गुड्डा-गुड़िया, घर-गुंदिया जो लड़कियों को खेलना बहुत-भाता था, उसे बिलकुल नहीं। उसे हम लड़कों वाले खेल पसंद थे- गिल्ली-डंडा, भौंरा बैटी वगैरह। और मजे की बात उसमें वह लड़कों के कान काटती थी। लड़कों वाले हर खेल में उस्ताद थी और जीतती थी। भौंरा भी वह 'लड़का छाप' चलाती, जैसे हम लड़के चलाते, भौंरे में रस्सी लपेटकर भौंरे को हाथ सिर के पीछे ले जाकर एक गति और बल से फेंकते, जिससे वह ज्यादा देर तक घूमता था जमीन पर। और 'लड़की छाप' में भौंरे को कमर झुकाकर बिना अतिरिक्त बल लगाए फेंकते थे, जिसमें उसका घूमना, जिसे हम लोग 'आस' कहते थे, कम होता था। लड़कियां प्रायः भौंरा चलातीं तो यही 'लड़की छाप'। हम लड़के इसे अपने 'लड़का छाप' से कमतर और हीनतर मानते, और अपने लड़के होने पर किंचित गर्व भी करते।

लेकिन उर्मिला हमें ऐसा गर्व करने का मौका नहीं देना चाहती थी। वह बराबरी से मुकाबला करती, और आगे रहती। बैटी (कंचे) में भी वह हमेशा जीतती, क्योंकि उसका निशाना अच्छा था।

हम हार से चिढ़कर उसके निशाने की तारीफ में कहते-अरे, इसीलिए तो पांडे बहनजी का मुड़ी फूट गया!

अब उसके पढ़ाई छोड़ देने का चंदवे सिर वाले गोरे बाबू और पकते बालों वाली साँवली दाई को कोई विशेष दुःख या पछतावा नहीं था। उनके लिए तो लड़की होने का मतलब ही घर-गिरस्थी और चूल्हा-चौका था। बस।

घर और चूल्हा-चौका संभाले उसे अरसा हो गया था। उर्मिला के लिए जैसे यह कोई समस्या ही नहीं थी। घर को वह बहुत साफ-सुथरा रखती, ठीक वैसे ही जैसे खुद को। दोनों छोटे कमरे और परछी हमेशा गोबर से लिपे होते और दीवाल के किनारे चूने से खुंटियाए। घर में गोबर-लिपाई की सोंधी महक होती और होती एक खुशनुमा ठंडक। परछी से एक छोटा दरवाजा आंगन के लिए खुलता था। दीवाल के किनारे पूरे लंबाई में चौरा था, जो बैठने गपियाने के काम आता। सीमेंट के पक्के आंगन में आगे बीच में तुलसी चौरा था, ठीक हमारे घर की तरह। फर्क-इतना था कि हमारे घर के चौरे में बाबू जब–तब अपने मिस्त्री होने का हुनर पेश करते रहते, कहीं से जुगाड़ लाए टाइल्स को तुलसी-चौरा की दीवाल पर लगा देते-अच्छा दिखेगा सोचकर।

पर मुझे बाबू की ऐसी मिस्त्रीगिरी पसंद नहीं आती थी। मुझे चौरा बेढब लगता, भूरे सफेद-बेतरतीब टाइल्स के जुड़ाव से।

उर्मिला के घर का तुलसी चौरा जिसमें कोई छेड़-छाड़ नहीं थी, अपने सादेपन के कारण अच्छा लगता था।

उर्मिला के घर मुझे सब कुछ अच्छा लगता था, सिर्फ एक बेर के पेड़ को छोड़कर, जो उनके आंगन में तिरछा लगा था, और जिसकी शाखाएँ चंदू के घर के आंगन में चली गई थीं। और पूरा मुहल्ला कहता था, चंदू की नाटी मोटी डोकरी दाई पक्की टोनही है। टोनही याने तंत्र-मंत्र जानने वाली, बुरा कर देने वाली, खास तौर पर बच्चों का। घर में बेर का पेड़ अशगुन माना जाता और उसके कारण होने वाले नुकसानों की लिस्ट लम्बी थी। छोटे-छोटे बच्चों की माएँ बुरी नजर से अपने बच्चों को बचाने के लिए बेर के पेड़ पर काले कपड़े, काली चूड़ियाँ या काले रिबन बाँधके टोटका करतीं। यह माना जाता कि ऐसी शक्तियों या परेतिनों का वास इन पेड़ों पर रहता है।

बेर के पेड़ में परेतिन रहता है, जाने क्यों दूसरे लड़कों से ज्यादा मैं इस पर विश्वास करता था और डरता था उधर देखने से भी। हमें पक्का विश्वास होता कि सूनी दोपहरियों में या फिर रात के अंधेरे में परेतिनें पेड़ से उतरकर चुपचाप किसी न किसी बच्चे को-लड़के को ले जाती हैं अपने साथ। और अपनी अदृश्य दुनिया में वे उसे रख लेती हैं। वहाँ बच्चे को कोई तकलीफ नहीं देते, उल्टे उसकी हर सुख-सुविधा का वे ध्यान रखती हैं। जो भी खाने की इच्छा हो, पलक झपकते हाजिर। एकदम स्वर्ग जैसा सुख। बस उनकी एक ही शर्त होती है- रोना नहीं। अगर तुम रोए तो फिर वे तुम्हें मार डालेंगी और तुम्हारी लाश किसी पेड़ से लटकती मिलेगी। चुपचाप उनकी हर बात मानते जाओ.....।

मैं भरसक कोशिश करता कि उस टेढ़े अशगुन पेड़ को न देखूँ... क़्योंकि मन में डर बना रहता कि कहीं नजर भर उसे देख लिया तो उसमें अदृश्य होकर रहती कोई न कोई परेतिन मुझे देख लेगी और गायब कर देगी....। और-मैं मन के भीतर उनकी हर बात मानते चले जाने के लिए खुद को तैयार करने लगता था...।

हे भगवान! हे बजरंगबली! मेरी रक्षा करना! मैं पेड़ को देखते ही बुदबुदाता।

मैं कभी-उर्मिला से पूछता, ''क्यों, तुम्हें डर नहीं लगता उर्मिला?''

''नहीं। मुझके काहे का डर? फिर मैं तो लड़की हूँ!'' वह कहती।

तब उर्मिला का लड़की होना मुझे एक वरदान लगता था और अपना लड़का होना एक अभिशाप।

लगता, परेतिनों के बीच लड़की होना एक सुख है, कोई डर नहीं।

वह डेढ़-दो साल पहले तक हम लड़कों के साथ गली में भौंरा, बैटी या गिल्ली-डंडा खेल लेती थी। इधर बड़ी हुई तो घरवालों ने डाँटकर उसका गली में खेलना बंद करवा दिया।

अब वह अपने घर के आंगन में खेलती है।

उर्मिला बड़ी आसानी से मेरे भौंरे को रस्सी से लपेटने के बाद हवा में उछालकर अपने हथेली में घूमते भौंरे को लोक लेती थी, कि मैं हैरानी से उसे देखता रह जाता था, उसका गोल गेहुएँ रंग का सुंदर चेहरा, जिसमें अक्सर उसकी नाक की नोक के पास पसीने की नन्हीं बूंदे जमा हो जातीं, और उसके दाएँ नथुने पर नाक की लौंग का नन्हा-सफेद नग धूप में हीरे सा चमकता दिखता था।

''तुम कहां से सीखी हो इतना अच्छा?''

''वाह! इसमें कौन सी बड़ी बात है?'' उर्मिला फिक्क से हंस देती, उसके सुंदर दांत चमक उठते,हुत बहुत सफेद। जैसे कोलगेट के विज्ञापनों में लड़कियों का देखते हैं।

वह कहती, ''ये तो तू भी कर सकता है।''

''तुम मेरे को सिखा-देना उर्मिला।''

''हाँ-हाँ, बिलकुल!''

मैं खुश होकर कहता, ठीक है, कल स्कूल से आने के बाद आऊँगा।

लेकिन मैं दूसरे दिन भूल ही चुका होता। न जाने कहाँ मुहल्ले के साथियों के साथ खेल में मगन होता।

पर इस गर्मी में तो जैसे मैं रोज़ दोपहर उर्मिला के घर जा रहा था। घर में इस समय वह प्रायः अकेली होती। बाजू के घर की सुलोचना, चंदू की बहन भी कुछ देर मिलने-बैठने के बाद अपने घर चली जाती। यह भी अच्छा था कि गर्मी के इन तपते दिनों में उसके घर कोई मेहमान या रिश्तेदार नहीं आ रहे थे। मैं रुका रहता। हमें पाकेट बुक्स की कहानियाँ पढ़नी होती थीं, घर, गली, मुहल्ला और सिनेमा को लेकर ढेर सारी बातें करनी होती थी जिसका कोई अंत नहीं होता था।

एक डेढ़ बजे का समय उसके खाने का होता। वह अपने लिए बटकी में बासी (रात का बचा भात, जिसे दूसरे दिन खाने के लिए पानी में रखा जाता है, छत्तीसगढ़ के गाँवों, मजदूरों का पसंदीदा भोजन) निकालते हुए मुझसे कहती, ''चल, बासी खा ले।''

''नहीं, मैं खा के आया हूँ। तुम खा लो।'' मैं टालता।

''नहीं, तुम भी संग में खाओ।''

पता नहीं, यह उर्मिला के यों कहने का असर होता, या मेरे भीतर बैठा लालची भूखा- उसके घर के आम का अचार के स्वाद पाने को मेरी जीभ का मचल जाना था, या शायद उसे मेरी यह कमजोरी बहुत अच्छे से मालूम थी कि मुझे आम के अचार के साथ प्याज की कतरनें बासी के साथ खाना बहुत अच्छा लगता है, वह एक छोटी गंजी में मेरे लिए बासी निकाल देती, और मैं टाल नहीं पाता था।

मेरा पेट चाहे कितना ही भरा हो, उर्मिला के घर की बासी खाने के लिए मेरी भूख सतह पर आ जाती थी। और जेठ की गर्म दोपहरी में ठंडा बासी खाना- एक अद्भुत तृप्ति देता था।

बाहर गर्म-हवाएँ चलतीं होतीं। उर्मिला परछी का दरवाजा उड़का देतीं, तो उसका घर ठंडा लगने लगता- एक शीतल छाया। अक्सर दाहिने कोने में जहाँ, ज़्यादा टंडा होता, वहां उर्मिला कथरी बिछा

देती। हम लेट जाते। हम बातें करते करते सो जाते। हमें बिलकुल पता नहीं चलता था। हमारी नींद के साथ बाहर चलती गर्म हवाएँ, पेड़ों का शोर, कौए या गौरय्यों की आवाजें भी सो जातीं।

मैं अपनी सब चोर बातें उसे बताता, जो मैं और किसी से नहीं कह सकता था।

''मालूम है, नंदू बहुत हरामी है।''

''वो तो साला शकल से ही हरामी दिखता है। क्या किया?''

''वो न स्कूल में एक लड़की को बहुत छेड़ता है। नीलू नाम है उसका।''

''और उर्मिला, उनकी छुट्टी होने पर वो उस लड़की को गोटी फेंक के मारता है। अभी, कुछ दिन पहले उसने लड़की की चोटी खिड़की के छड़ से बाँध दी.... वो खिड़की के पास बैठती है.....।''

''वो लड़की उसको डाँटती नहीं? गुस्सा नहीं करती?''

''डांटती है। बहुत गाली देती है—कुत्ता, साला, बेशरम। पर नंदू सच में हरामी है। उसे फरक नहीं पड़ता। उल्टे वो हँसता है इस पर वो कहता है वो लड़की 'उसकी वाली' है। और उसके बाजू में बैठने वाली को भरत की बोलता है।''

''अच्छा! तो तुम सब लोगों ने अपना-अपना छांट लिया है।'' उसे सुनकर अब मजा आने लगा। उसने मुस्कराकर पूछा, ''तो तेरी वाली कौन-सी है?''

''अरे भग्ग!'' मैंने झिड़ककर बचना चाहा, ''मेरी कहां से आएगी? मैं वैसा नहीं हूँ।'' मैं अपनी सफाई पेश करने लगता था।

''वाह, होगी कैसे नहीं? जब तेरे लफंगे दोस्तों के पास है तो तू तो उनसे बहुत अच्छा है!''

''नहीं है न... ऐसा कुछ नहीं है।'' मैं उसकी तरफ न देखकर, बचने के लिए इधर-उधर देख रहा था।

''ठीक है, राजेश, तू बता चाहे मत बता। पर मुझको पता है!'' उर्मिला ने अपने बड़े होने, अनुभवी होने का यह दाँव फेंका था। मैं बुद्धू उसमें फँस गया।

''क्या पता है?'' मैं एकदम डर गया।

''मैं जानती हूँ उस लड़की को....।'' उसका झूठा आत्मविश्वास गज़ब का था।

''किस लड़की को?'' मेरी जैसे चोरी पकड़ी गई।

''मैं क्यों बताऊँ? तेरा चक्कर है, तू बता....।''

मैं घबराकर बताने लगा, ''अरे, ऐसा कुछ नहीं है। ये साले लड़के जबरदस्ती उस लड़की के साथ मेरा नाम जोड़ते हैं। न जाने क्यों। बोलते हैं ये तेरी वाली है।''

''कौन है वो लड़की?''

''दीप्ति नाम है उसका।'' अंततः मुझे बताना पड़ा।

''दीप्ति! अच्छा नाम है! अच्छी दिखती है? सुंदर?'' उर्मिला सच्चाई जान रही थी, फिर भी

मज़ा लेते वह पूछ रही थी।

प्रश्न उस लड़की के अच्छे दिखने का था, तो मेरा सिर जरूर 'हाँ' में हिला होगा।

''अच्छा बच्चू, तो ये बात है!'' उसे मौका मिल गया था मुझे यूँ ही झूठ-मूठ का छेड़ने का।

मैं सच बताने के लिए बहुत कसम खाने लगा..... भगवान कसम! विद्या कसम! पर उर्मिला को आज मेरे इन कसमों पर भरोसा नहीं था। पूछा, ''कहाँ रहती है?''

''वो उधर रेलवे कालोनी से आती है।''

''अच्छा! अब तो मैं सबको बताऊँगी!'' वह हंसने लगी थी एकदम। और हंसते हुए सुंदर लग रही थी। बहुत सुंदर।

अब उर्मिला, जो मेरा राज जान चुकी थी, उसे जैसे यह हक मिल गया था, जब जी चाहे वह मुझे छेड़े। और अक्सर वह ऐसा करती।

मुझे भी उसका छेड़ना बहुत भाता था। उसके छेड़ से जो एक भीतर खुशी, और एक अजब सी तरंग जाग जाती थी, उसे बयान नहीं किया जा सकता। पर वह महसूस होता था, एकदम मीठा सा! एकदम भला सा!

और जब कभी ऐसा करती, मुस्कराती एक खास ढंग से कि उसकी चंचल भूरी आँखें मुस्कराने लगतीं, चेहरा शरारती चमक से भर उठता। और इस चमक को दुबारा पाने मैं अपने छेड़े जाने का इंतज़ार करने लगा था।

वे प्रेमियों के घर से भाग जाने के दिन थे।

प्रेमियों के भागने का आदर्श मौसम!

हमारे मनोरंजन का सबसे सस्ता, सबसे बड़ा और सबसे महान साधन सिनेमा इसमें प्रेमियों की सबसे ज़्यादा मदद कर रहा था, उनके प्रेम को परवान चढ़ा रहा था शहर के खस्ताहाल टाकीजों के मटमैले सफेद पर्दे, जिनमें कुछेक जगह सिलाई के निशान बहुत साफ दीखते, थे फटेहाल पर्दे फिल्म शुरू होते ही एक जादू जगा देते, एक अद्भुत सम्मोहन!

राजेश खन्ना-जीनत अमान अभिनीत फ़िल्म 'अजनबी' का एक गाना प्रेमियों के लिए आदर्श-गीत था जो बहुत बज रहा था—'हम दोनों, दो प्रेमी दुनिया छोड़ चले.... दुनिया की हम सारी रस्में तोड़ चलें।'

'अब चाहे माँ रूठे या बाबा, यारा मैंने तो हाँ कर ली'। यह खुले आम ऐलान 'दाग' में राजेश खन्ना और शर्मिला टैगोर कर रहे थे।

इन्हीं दिनों भारतीय फिल्म इण्डस्ट्री के सबसे बड़े 'शो मेन' राजकपूर की बॉबी सुपर हिट हो चुकी थी, जिसका 'झूठ बोले कौआ काटे' सब तरफ बज रहा था, और 'हम तुम एक कमरे में बंद हों और चाबी खो जाय' पूरे देश में एक गहरी मादक उत्तेजना फैला रहा था। किशोर प्रेम की इस फिल्म में एकदम गोरा चिट्टा लड़का ऋषिकपूर कमसिन डिम्पल कापड़िया को अपनी मोटर साइकिल में पीछे

बिठाकर ले भागता है....।

मैं इस फिल्म की कहानी उर्मिला को सुना रहा था, जो मैंने माँ, काकी, और पास-पड़ोस की औरतों-बच्चों के साथ रात के 9वाली शो में देखी थी, और उर्मिला को बता रहा था जो काकी ने फिल्म देखने के बाद कहा था—'छिः, हिरवइन कइसे-कइसे कपड़ा पहिरे हे! ये लड़का-लड़की मन के प्यार वाला खेल आए। बिलकुले अच्छा नहीं!'

मैंने शशि कपूर की 'चोर मचाए शोर' नहीं देखी थी, उर्मिला ने पास-पड़ोस की लड़कियों के साथ 'अप्सरा' में यह देखी थी, और एक दोपहर मुझे इसकी पूरी 'इस्टोरी' सुनाई थी, कि कैसे शशि कपूर मुमताज के घर में उसके रईस बाप के सामने नाच-नाचकर गाता है—'ले जाएँगे, ले जाएँगे दिलवाले दुल्हनियाँ ले जाएँगे.....।' और मुमताज अपने बाप की धन-दौलत छोड़ गरीब शशिकपूर के साथ भाग जाती है.....।

लगता है, ये दिन तब हमारे कस्बेनुमा शहर के लिए नहीं, बल्कि पूरे देश के लिए रोमानी दिन थे। सिनेमा में तो यह सब था, पॉकेट बुक्स जो सबसे ज्यादा पढ़े जाते थे, उपन्यास, वे गुलशन नंदा, रानू, प्रेम वाजपेयी, विकास, मनोज इत्यादि के थे जिन्हें पढ़ते हुए पाठक रोमानी भावनाओं और खयालों में एकदम डूबा रहता था, ये किताबें जैसे उनके किन्हीं गहरी भावनात्मक जरूरतों को पूरा कर रही थीं। देश के गाँवों, कस्बों में रोमान बजरिए सिनेमा और उपन्यासों के पूरे उफान पर था।

और यह उन्हीं दिनों हुआ था कि उर्मिला के घर के बाजू के घर की सुलोचना, चंदू की बहन, मुहल्ले के मराठी लड़के संजू के साथ भाग गई थी.....।

और उर्मिला के घर के पीछे जो चाल थी जिसमें बीड़ी बनाने वाले महार मराठी भाषी लोग रहते थे, वहाँ की लड़की अनीता-जिसके भाग जाने के लक्षण बहुत पहले से नोट किए जा रहे थे, स्कूटर मैकेनिक पप्पू के साथ भाग गई थी, अंततः.....।

तब शायद दूसरे मुहल्लों के भी लड़के लड़कियाँ भागते रहे होंगे, लेकिन जाने क्यों लगता था हमारा मुहल्ला डिपरापारा शहर में इस मामले में सबसे आगे है.... इतना कि शहर के कोतवाली थाने के लोग बगैर पूछे जान जा रहे थे कि केस डिपरापारा का है।

भागे हुए लोगों को लेकर मुहल्ले में चार दिन सनसनी रहती, वह आज की टीवी न्यूज चैनलों की भाषा में 'एक्सक्लुसिव न्यूज' होती, जिसके बारे में लोग, ख़ासतौर पर स्त्रियाँ अपने मिलने-जुलने की हर जगह-हाट बाजार, टाकीज, सरकारी नल, यहाँ तक कि डिब्बे में पानी लेकर सुबह-सुबह दिसा मैदान जाते तक-इसकी चर्चा करके मन की शांति-पातीं.....।

उनका निष्कर्ष यह होता कि घर से भाग जाने वाली हर लड़की गंदी और चालू और इसलिए दोषी होती है, माँ-बाप की नाक कटा देने वाली। लड़कों का कोई खास दोष नहीं है, क्योंकि उनकी तो आदत होती है ये सब करने की.....।

अपनी उन प्यारी दोपहरियों के आखिरी दिनों में से किसी एक दिन-मैंने यों ही बातचीत में उर्मिला से कहा था, घर से भाग जाने वाली लड़कियाँ गंदी होती हैं।

''और लड़के? वो नहीं होते गंदे?'' उर्मिला ने सख़्ती से कहा था,''और सुलोचना को तो तुम जानते हो, हमारे साथ यहीं खेलती थी, वो गंदी लड़की थी?''

सुलोचना कल तक हमारे साथ यहीं खेलती थी, पाँचवीं तक पढ़ने के बाद घर में थी। वह तो अच्छी लड़की थी, पर.....।

मुझसे कुछ कहते नहीं बना, पर अच्छे और बुरे के संशय में मन डोल रहा था घड़ी के पेण्डुलम सरीखा।

पर आखिरकार अपने मन की बात मैंने कह ही डाली, ''पर घर से भाग गई तो खराब लड़की हुई ना? माँ-बाप की नाक-कट गई। कोई अच्छा थोड़ी कहता है।''

''अच्छा, ऐसे में तो कल को मैं भी खराब लड़की हो जाऊँगी?'' उर्मिला गंभीर थी, और सीधे मुझे देख रही थी।

''क्यों? तुम कैसे खराब हो सकती हो?'' मैंने चौंककर उसे देखा था।

''मान लो कल को मैं भी किसी के साथ भाग गई तो?''

मैं एकदम अवाक्! बहुत अविश्वास से मैंने पल भर उर्मिला को देखा था, जो बहुत गंभीर थी सच में और अपने प्रश्न का उत्तर ढूँढ रही थी मुझमें। अचानक कुछ सुन्न सा महसूस हुआ था मुझे, अजीब घुटन सा। इस समय बाहर ढलती दोपहर की हवा जैसे रुक-सी गई थी। मैंने अब यों ही धूप के उन नन्हें वृत्तों को देखने लगा था जिन्हें धानी की सुराखों से सूरज बनाता है, जो समय के साथ चुपचाप धीरे-धीरे सरकते जाते हैं, जैसे इनमें जीव हो.....।

मैंने कहा, ''ऐसा थोड़ी होगा। भला तुम क्यों भागोगी?''

''क्यों? क्यों नहीं भाग सकती मैं?'' वह जैसे आज अपने भागने पर ही अड़ी हुई थी।

तभी सहसा मुझे आभास हुआ था वह मुझसे कुछ साल बड़ी है, और उसका बड़ापन अब न केवल देख रहा था बल्कि महसूस कर रहा था। उसकी कमीज के उभार, जो शायद ही कभी वैसे ध्यान खींचते थे मेरा, आज जरूरी तौर पर खींच रहे थे। एक अनकहा आकर्षण।

मुझे लगा था, बड़ी हो चुकी उर्मिला अब सचमुच भागने वाली है। वह मन ही मन तय कर चुकी है।

''पर .....पर तुम किसके साथ भागोगी?'' मेरे मुँह से किसी तरह निकला।

''तेरे साथ! उसने छूटते ही कहा,'' ''चल भागेगा मेरे साथ? दीप्ति को छोड़ के?''

मैं एकदम खिसिया गया-चल भग्ग!

फिर उसके साथ भागने के खयाल से ही खुश हो गया था। मैंने शरमाकर अपना सच कहा, '' भला ऐसे कैसे हो सकता है। अभी तो मैं छोटा हूँ...।''

खिलखिला कर हँस पड़ी थी उर्मिला। और देर तक हँसती रही थी।

मैं भी हँसने लगा था।

हम साथ-साथ हंस रहे थे।

यह बचपन था। बहुत जल्दी भागने वाला। बहुत जल्दी हाथ से छूटने वाला। बहुत जल्दी भूलने वाला। कुछ भी अधिक देर तक नहीं टिकने वाला। न ही वैसी समझ और परिपक्वता कि हम किसी बात के महत्व को ठीक-ठीक आंक सकें। यह एक तेज़ प्रवाह के नदी के सदृश होता है जिसमें हम बहते जाते हैं, कुछ भी ख़ास सोचे बिना।

यह उसी जुलाई में हुआ था।

जुलाई बच्चों के लिए सबसे शानदार महीना है। सबसे बढ़िया! जब स्कूल खुलते हैं और स्कूल के साथ-साथ पूरा शहर बच्चों के हो-हल्ले से भर जाता है, उनकी खुशियों के शोर से। उनकी कक्षाओं से निकलता हल्ला-गुल्ला ऐसा और इतना फैलता है कि सबको प्रसन्न कर देता है। पेड़ों को, पेड़ों पर लटकते झूलों को, बारिश को। जुलाई में बच्चों का मन रमने के लिए ढेर सारी चीज़ें होती हैं, नयी क्लास, नये ड्रेस, जूते मोजे, नया बैग़ और नयी कापी-किताबें जिनसे इन दिनों एक ख़ास सोंधी महक किसी जादू की तरह से निकला करती है। नये दोस्त। उन्हीं में रमना। पिछला-सब कुछ किसी स्लेट सा धुल-पुँछ जाता है, जैसे तेज़ बारिश से शहर धुल कर ताजा और नया हो जाता है।

निस्संदेह जुलाई बच्चों के लिए सबसे अच्छा महीना है। और सबसे प्यारा!

उस जुलाई में मैं भी रमा था। और बस रमा था, सुभाष प्राथमिकशाला की उस कक्षा में जिसके दरवाज़े के ऊपर काले पेंट से पाँचवीं कक्षा लिखा था। तब यह कमरा एक बहुत बड़ी दुनिया होती थी जिसमें हम सालों साल रह सकते थे, बहुत खुशी-खुशी।

जुलाई की शुरुआत में ही पता चला, उर्मिला की शादी लग गई है। और शादी इसी हफ्ते है।

बारात इतवार को आएगी।

यह मेरे लिए एक अचानक था। उसकी शादी को लेकर मैं कभी सोचता भी नहीं था। लगता था उर्मिला तो रहेगी जैसे रहती आई है। हमारे संग खेलती, बतियाती। अब इसकी शादी हो रही है, और वह भी दूसरी लड़कियों के समान अपने ससुराल जाएगी, ऐसा सोचना कठिन था। उसकी ससुराल कोई गाँव है, जो यदि यहाँ से 20-25 किलोमीटर भी रहा होगा, मेरे लिए बहुत दूर था, इतनी दूर कि वहाँ जाने के बारे में केवल सोच सकता हूँ, सचमुच में जा नहीं सकता।

उसके घर शादी का मंडप सजा हुआ था। घर आज पूरी तौर पर बदला हुआ था। आंगन में बाँस का मड़वा (मंडप)। दो-दो छोटे बाँस को ढाई-तीन फीट की दूरी पर गड़ाया हुआ, एक वर का एक वधू का। बाँसों के सामने एक-एक करसा (मिट्टी का कलश) रखा था। इन कलशों को रंग-बिरंगे चावल से अलंकृत किया गया था। कलश के ऊपर एक बड़ा-सा दिया जिसकी जोत जल रही थी।

मंडप में ऊपर सुतलियों का जाल-सा बुनकर आम के पत्तों का छाजन था। आम के पत्तों का हरा मंडप। मंडप में लगी टहनियों के आम के पत्तों का हरापन ताज़ा था। वे सूखे नहीं थे।

आंगन, के फर्श पर दरी, चटाई और कथरी बिछाकर रखे गए थे मेहमानों के लिए।

लाउडस्पीकर में फ़िल्मी गाना बज रहा था। कोने के खंबों में ट्यूबलाइट लगे थे जो पूरा आंगन रोशनी से भर दे रहे थे। पास-पड़ोस के छोटे बच्चे आंगन में खेल-कूद रहे थे।

जैसे-जैसे शाम गहराने लगी, मुहल्ले की स्त्रियों का आना बढ़ने लगा। लड़कियाँ भी। सजी-सँवरी। खूब चहकती हुई, जिनसे शादीघर शादीघर बनता है।

मंडप के दाहिने बाँस के सामने उर्मिला का दूल्हा बैठा था। वह एक साँवले रंग का किसान लड़का था जिसका किसान होना उसके चेहरे के कसाव, हाथों की उंगलियों से साफ दिखता था। चौड़ी हथेलियों में मोटी-गठी हुई उंगलियाँ थीं। दूल्हे की बारीक मूँछ गहरी काली थी।

डिपरापारा के पेटेंट महाराज ओमकार दुबे थे, सत्यनारायण की कथा, रामायण, भागवत से लेकर शादी-ब्याह सब निपटाने वाले। ओमकार महाराज ने कन्या को बुलाने का आदेश दिया। महाराज की आज्ञा सर आँखों पर।

उर्मिला को उसकी दो-तीन रिश्तेदार महिलाओं ने बहुत संभालकर मंडप में लाया। बहुत धीरे-धीरे। यह धीरे-धीरे चलना उसे बिलकुल अच्छा नहीं लगा होगा, मैंने सोचा था। पर वह दुल्हन थी। और दुल्हन के मंडप में चलने की ऐसी ही परंपरा थी जो न जाने कितनी शताब्दियों से चली आती थी, राम और सीता के जमाने से क्योंकि रामलीला हो या रामायण या सिनेमा, सबमें सीता ऐसे ही चलती थी स्वयंवर के दृश्य में, और देखते हुए सबकी आत्मा प्रसन्न होती थी, तृप्त होती थी।

उर्मिला मंडप में बैठी। सिमटकर। आँख नीची। लगातार। और लगातार। वह किसी को भी नहीं देखती थी। सब उसे देखते थे। उसकी शादी की लाल साड़ी, उसके नाक, कान और गले के आभूषण। उसके सिर पर बँधा कागज और प्लास्टिक की रंगीन पन्नियों वाला सस्ता मौर। वैसा ही मौर दूल्हे के सिर पर बँधा था।

मुझे इतना तो पता था कि सब लड़कियों को शादी के मंडप में ऐसी ही छुई-मुई बनकर बैठना पड़ता है, नहीं बैठने से लड़की के चाल-चलन को गलत समझा जा सकता है। इसलिए ऐसे ही बैठना चाहिए, सिर झुकाकर, कुछ नहीं देखते हुए। उसके बावजूद मैं इस उर्मिला की संगति उस उर्मिला से नहीं मिला पा रहा था जो इस घर में रहती है, खेलती कूदती, हँसती खिलखिलाती उर्मिला। लड़का छाप उर्मिला।

यह एक 'लड़की छाप' उर्मिला थी। एक सामान्य लड़की उर्मिला।

'लड़का छाप' उर्मिला कहाँ गई?

मैं इस सवाल पर ज्यादा कुछ भी नहीं सोच पाया था, क्योंकि भीड़ बढ़ती जा रही थी, गहमा-गहमी थी, और देखने के लिए बहुत कुछ। कुछ देर बाद मैं खुद ही लड़का छाप उर्मिला के प्रश्न को भूल गया था और मुहल्ले के साथियों के संग बतियाने लगा था।

इधर, मुहल्ले की जान-पहचान की औरतें और युवतियाँ उर्मिला की शादी में मगन उर्मिला के सुंदर दिखने के, उसके पहने गहनों के, लड़के के दिखने पर मानों अनंतकाल तक बात कर सकने का हुनर दिखा रही थीं। उनकी बातें लड़के की तरफ से मिले कपड़े गहनों से लेकर लड़की के माँ-बाप

द्वारा दिए जा रहे दहेज के सामानों तक फैली हुई थीं। उनके लिए जैसे शादी का अधिकतम मतलब यही कुछ था। या इसके आस-पास का कुछ और।

शादी के बाद-उर्मिला अपने ससुराल चली गई।

शादी के बाद लड़की का अपने ससुराल जाना ही ज़रूरी और अच्छा माना जाता था। ख़ासकर लड़की के माँ-बाप के लिए यह एक सुखद बात होती है। अगर लड़की ससुराल न जाए तो परेशानी है। लड़की का किसी भी हाल में वहाँ रहना लड़की के अच्छे होने का पर्याय था। और तब लड़की के मायकेवाले भी चैन से रह लेते हैं।

शादी के कोई महीने-डेढ़ महीने बाद मुझे उर्मिला एक दिन दिखी थी, अचानक।

मैं स्कूल से पैदल घर आ रहा था। कंधे पर बस्ता था। कपड़े का बना झोला। मैं स्कूल की पूरी छुट्टी के बाद घर लौट रहा था। चार से साढ़े चार के बीच का कोई समय रहा होगा। उस दिन दोपहर में अच्छा पानी बरसा था कि सड़क के गड्ढों और किनारे में पानी जमा हो गया था। मैं इन गड्ढों से बचते-बचाते आ रहा था। घर अभी कुछ दूर था। एक रिक्शा मैंने उस संकरी सड़क पर आते देखा तो उसके चक्कों के छींटे से बचने मैं वहीं गोविंद सिंधी के किराना दुकान के चबूतरे पर खड़ा हो गया, रिक्शे के गुज़र जाने के लिए। रिक्शा जब पास-आया तो देखा, तो चौंक पड़ा पहले अविश्वास से, फिर खुशी से। कि उसमें उर्मिला अपने पति के साथ बैठी है, केसरिया पीले रंग की साड़ी पहने, और वह अपनी उम्र से तीन-चार साल बड़ी लग रही थी। एक युवती।

मुझे देखते ही वह मुस्करायी थी। यह वही परिचित और आत्मीय मुस्कान थी, बल्कि आत्मीयता का रंग अधिक गाढ़ा था। या शायद मुझे ऐसा लगा हो किसी को बहुत दिनों बाद देखने के कारण। जो हो, मैं भी मुस्करा पड़ा था। रिक्शा मेरे सामने से होता हुआ तेज़ी से आगे बढ़ गया था। अब पीछे-रिक्शे के हैंडल में बँधे बीड़ के घुंघरुओं की खनखन थी, दूर होती हुई....।

रिक्शे के घुंघरुओं की खनखन। के बैकग्राउंड में उर्मिला की सहज मुस्कान से मैं सराबोर था।

तभी मैंने देखा, उर्मिला ने अपना सिर पीछे घुमाया है और मुझे देखते हुए हाथ हिला रही है, विदाई वाला, और मुस्कराहट ज्यों की त्यों है.....।

मेरा हाथ भी खुद-ब-खुद ऊपर उठकर हिलने लगा था, वैसे ही।

यह भी उसी बरस हुआ था, पता नहीं नवम्बर था कि दिसम्बर, पर ठण्ड के दिन थे जब कोहरा सुबह में देर तक बना रहता था, और कोहरा छंटने के बाद दिन कुछ ऐसा चमकता था कि चीज़ें बहुत साफ़-साफ़ नज़र आतीं मानो उन पर अतिरिक्त रोशनी पड़ रही हो।

मुझे ठण्ड की याद नहीं, लेकिन ठण्ड की इन खुली और उजली धूप में चीज़ों का चमकना याद है, बेतरह।

उर्मिला की शादी के कुछ महीने बाद, पता नहीं किन कारणों से उसके दाई-बाबू ने अपना यह मकान बेच दिया था, अचानक। और बेचकर अपने मूल गाँव चले गए जहाँ उनकी थोड़ी खेती-बाड़ी थी, उनके परिवार के लोग थे।

उनके मकान को 'गुरुनानक ट्रैवेल्स' और 'शातिया पेट्रोल पम्प' के मालिक गुरुशरण सिंह ने खरीदा था।

अपने गांव जाने से पहले उसके बाबू और दाई मोहल्ले के अपने परिचितों से मिलने उनके घर गए थे। वे हमारे घर भी आए थे। वे दोनों माँ और काकी से, और बबा से बात करते जाते थे और अपने लगातार बहते आँसुओं को पोंछते जाते थे। उसके बाबू के कंधे पर एक पुराना लाल गमछा था जिससे वे अपनी आँखें और नाक पोंछते थे, और उसकी दाई सस्ती सूती साड़ी के पल्लू से।

अपने घर का ऐसा सामान जो वे साथ नहीं ले जाना चाहते थे उन्होंने पास-पड़ोस को दे दिया था। धान कूटने का मूसल चंदू के घर, दाल-गेंहूँ हाथ से पीसने की चक्की जाँत हमारे घर, एक पिंजड़ा भरत के घर....।

जाँत हमारे घर में अनुपयोगी था, कई साल किसी कोने में पड़ा रहा, फिर एक दिन माँ ने उसके पत्थर को नाले के किनारे जमा दिया था, नहाने और कपड़ा धोने के लिए। और जैसे-जैसे समय बीतता गया, पानी और कपड़े के कारण वह पत्थर मटमैले से बादामी और फिर सफेद होता गया था और धूप में चमकता था।

उर्मिला के दाई-बाबू के गाँव-जाने के कुछ ही दिनों बाद नए मालिक गुरुशरण सिंह के मजदूर उस मकान को तोड़ने आ गए थे। वह खेल के लिए हमारा आदर्श घर था। हम लड़के वहीं पास में खेलते खेलते उसका ढहना देख रहे थे। दीवाल पर बहुत तेज़-तेज़ कुदाली और सब्बल चला रहे थे वे। फिर देखते ही देखते वह घर एक मलबे में बदल गया था, और घर के नहीं होने का एक अजीब खालीपन और अजनबीपन वहाँ रह गया था।

तुलसी चौरा भी औंधा पड़ा था मलबे के ढेर में।

काम करने वाले मजदूर आपस में बहुत जोर-जोर से बातें करते थे, और अपनी थकान मिटाने के लिए स्त्री मजदूरों से हंसी मज़ाक करते थे, अश्लीलता की हद तक, और वे भी इसे सहज भाव से लेती थीं। हम लड़के कुछ कौतुक से यह ढहाना देख रहे थे। देखते-देखते पाया कि एक सन्नाटा हमारे भीतर पसर रहा है....।

मुझे रुलाई नहीं आ रही थी, पर कुछ था। मलवे में पड़े कुछ फालतू सामानों, जिनका कभी उपयोग था और अभी बेकार थे, जैसे टिन की मिट्टी तेल की टिपली, डब्बे, जीर्ण-शीर्ण चटाई, या औंधे पड़े खिड़की और दरवाज़े.... सब मलबे में बहुत निरीह लग रहे थे और भीतर दूर तक एक लकीर खींच रहे थे....। खंरोच की लकीर....

मेरे भीतर कुछ कचपचा रहा था। कीचड़ सा। मैं इस कीचड़ में किसी घायल जानवर की तरह छटपटा रहा था बुरी तरह। मैं शायद ज़ोर-ज़ोर से कहना चाहता था उर्मिला, पर एक अजीब गों गों की आवाज ही गले से फूट रही थी जिसे कोई नहीं सुन सकता था और समझने का तो ख़ैर प्रश्न ही नहीं था...।

इसी के साथ हमारे मुहल्ले डिपरापारा में बहुत बड़े और बहुत रईस लोगों की रिहाइश की शुरुआत हो चुकी थी, क्योंकि यह शहर के बीचो-बीच पड़ता था और रेलवे स्टेशन, बस स्टैण्ड, अस्पताल बहुत पास थे। आने वाले तीन-चार सालों में यहाँ के तीन पुरानी चालों को बिक जाना था और उनमें रहने वाले साधारण लोगों को अपने नए ठिकाने की खोज में तितर-बितर हो जाना था, और यह मोहल्ला धीरे-धीरे एक पॉश कालोनी बन जाना था जिनमें बड़े-बड़े आलीशान बंगले होने थे....।

यह हो रहा था। बहुत तेजी से। पर यह समाचार आकाशवाणी की मुख्य ख़बर नहीं थी जिसे सब सुन सकते। यह दिखता भी नहीं था।

इन चालों में रहने वाले तमाम लोगों, जिनका हमारे घर और हमारा उनके घर बेफिकर बेहिचक आना-जाना था, उनका यहाँ से चले जाना नहीं दिखता था, लेकिन उनके घरों को ढहाने के बाद बन रहे आलीशान भवन एकदम दिखता था, चमकता हुआ।

कि बसे-बसाए एक मोहल्ले का पूरा जीवन, आपस की साझेदारियाँ, उनके लड़ाई-झगड़े, इनके सुख-दुख, हँसी-मज़ाक या उनके जीव-जनावर का गायब होना नहीं दिखता था। बिलकुल नहीं दिखता था।

लेकिन यह हो रहा था। बहुत तेज़ी से। पर दिखता नहीं था।

अनवरत

'राष्ट्र–राज्य' की अवधारणा और गांव–शहर के अपने–अपने वजूद को लेकर सोच–विचार का सिलसिला हिंदी में आधुनिक काल में किस तरह गति पकड़ता है, यह देखना जितना रोचक है, उतना ही महत्वपूर्ण भी। उत्तर–औपनिवेशिक विमर्शों का हस्तक्षेप भी अब इसमें शामिल हो गया है। अनवरत जटिल होती जाती स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में 'राष्ट्र–राज्य' और 'गाँव–शहर' को सांस्कृतिक तौर पर ही नहीं, आर्थिक तौर पर भी परिवर्तनशील इकाइयों के रूप में अपने अध्ययन का विषय बनाने की ज़रूरत है। 'भारतमाता ग्राम–वासिनी' जैसे भावुक उदगार अब बहुत अर्थवान् नहीं रह गये हैं। अस्मिताओं के दायरे में दलित और स्त्री का प्रश्न ही नहीं, 'राष्ट्र–राज्य' और 'गाँव–शहर' का प्रश्न भी आता है। दलित प्रश्न पर 'बहुवचन' के पिछले अंकों में विस्तार से विचार होता रहा। इस बार हम 'स्त्री–आत्मकथा' का पश्चिमी सिद्धांतकारों के विचारों के प्रकाश में तथा, भारत में 'राष्ट्र–राज्य' और 'शहर' की अवधारणाओं के विकास का अस्मिताओं के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ में जायज़ा ले रहे हैं।

उत्तर–औपनिवेशिक शहर और अस्मितावादी विमर्श

मिहिर पांड्या

'भारत गाँवों का देश है', इस बहुप्रचलित कथन के बावजूद यह एक सच्चाई है कि शहर, उत्तर-औपनिवेशिक हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। 'आधुनिकता', और 'शहरीकरण', दो परस्पर जुड़ी हुई प्रक्रियाएँ हैं। आधुनिक हिन्दुस्तानी शहर न केवल भारतीय आधुनिकता के उद्‌गम स्थल हैं बल्कि उस 'आधुनिकता', के तमाम अन्तर्विरोध भी यहीं उभरकर सामने आते हैं। उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय शहर की अवधारणा को समझने के लिए पहले हम उस राष्ट्रवादी विचार-सरणी को समझने का प्रयास करेंगे जिसकें गर्भ से भारतीय आधुनिकता ने जन्म लिया। जैसा पार्थ चटर्जी भारतीय राष्ट्रवाद के संदर्भ में कहते हैं कि यह ऐसा समरूपीकृत राष्ट्र-राज्य बनाने का प्रयास था जो पश्चिम से स्वयं को 'भिन्न, साबित करने की कोशिश के बावजूद उसके मॉडल की नकल साबित हुआ।[1] यह आधुनिकता से जुड़ा मूल द्वैध ही आगे चलकर उभरी अस्मिता की राजनीति की वजह बनता है। हम देखेंगे किस तरह आधुनिक शहर ही इसके लिए रंगमंच बनते हैं।

भारत में आधुनिकीकरण में और शहरीकरण की प्रक्रिया बरास्ता यूरोप से आई है। इस वजह से इन प्रक्रियाओं के प्रभावों को समझने के लिए वहीं से बात शुरू करना उचित होगा।

शहरीकरण की इस प्रक्रिया के परिणाम यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के बाद ही दिखने लगते हैं और धीरे-धीरे अन्य रचनात्मक क्षेत्रों में भी फैंल जाते हैं।

> ''और महान शहर, ऐ ईश्वर वे क्या हैं?
> विघटित और छूटी हुई जगहें।
> जिस शहर को जानता हूँ मैं—
> वह दीखता है- आग से भागते हुए पशुओं-सा ।
> आश्रय, आश्रय नहीं रहा।
> बीत चुके हैं अब युग शहरों के।''[2]

तकरीबन सौ साल पहले जर्मन कवि रिल्के ने शहरी जीवन के यंत्रवत होते जा रहे अनुभव को कुछ इस तरह अपनी कविता में बयान किया था। यूरोप जिसने हमसे बहुत पहले आधुनिकता और पुनर्जागरण के साथ आये इस शहरीकरण के अनुभव को देखा, गवाह है उस 'बेगानेपन' और 'नास्टेल्जिया' का जो शहरीकरण के इस व्यापक अनुभव के साथ जुड़ा है। कुछ अपना खो जाने या छूट जाने का अहसास, एक 'परायापन'। रेमण्ड विलियम्स 'द कंट्री एण्ड द सिटी' में अपनी पढ़ी एक पुस्तक का ज़िक्र करते हैं जिसमें इंग्लैण्ड की 'कंट्री' लाइफ' (ग्राम्य जीवन) के चले जाने का मर्सिया है, एक ऐसी दुनिया जो पहले विश्वयुद्ध के पहले तक ज़िन्दा थी, पर पिछले पचास वर्षों में नष्ट होती गई। पर जब वो इस ठहरी हुई दुनिया को ठीक-ठीक पकड़ने की कोशिश करते हैं तो यह दुनिया उनकी पकड़ में नहीं आती। वह पहले 1907, फिर 1900 फिर 1860, फिर 1830, फिर 1770-80 और यहाँ कि 16वीं-15वीं सदी तक पीछे चली जाती मालूम पड़ती है जहाँ हर कोई, हर लेखक, कवि एक पुरानी व्यवस्था के ख़त्म हो जाने का स्यापा कर रहा है। यह विलाप मूलतः गाँवों से, देहात से जुड़ी हुई एक पूरी सभ्यता पर केन्द्रित है।[3]

शहरीकरण का यह अनुभव देश और काल की सीमाओं को लाँघता हुआ व्यापक से व्यापकतर होता गया है। आज यह तीसरी दुनिया के मुल्क हिन्दुस्तान के लिए भी उतना ही बड़ा सच हैं जितना विकसित मुल्कों के लिए। इस साल के रॉटरडम कविता महोत्सव पर अपनी टिप्पणी में गीत चतुर्वेदी लिखते हैं, ''इस बार कविता महोत्सव की थीम थी- सिटी एंड कंट्री। पोयट्री इंटरनैशनल की संपादक मिशेल हचिंसन अपने संपादकीय में लिखती हैं, '2008 में पहली बार पूरी दुनिया में शहरी आबादी, ग्रामीण आबादी से ज़्यादा हो गई। 2030 तक शहरी आबादी साठ फीसदी से ज्यादा हो जाने की संभावना है। आबादी का यह बदलता अनुपात और ग्रामीण इलाकों का लगातार होता शहरीकरण शहर और गाँव के पारंपरिक संबंध को प्रभावित करेगा। इसका असर व्यक्ति पर भी होगा और समाज पर भी।''[4]

शहरीकरण और आधुनिकता

शहरीकरण का यह अनुभव हमारे आज के सार्वजनिक दायरे का सबसे बड़ा सच है। मेरे पिता की पीढ़ी के लोग गाँव की पैदाइश थे जिन्होंने बेहतर अवसरों की तलाश में शहर का रुख़ किया लेकिन मेरी पीढ़ी के लड़के-लड़कियाँ शहरों की पैदाइश हैं। जैसा सुनील खिलनानी लिखते हैं,''भारतवासियों का शहर से संबंध कैसे बना? या शहर के प्रति वे क्यों आकर्षित हुए? इन सवालों के जवाब शहरों की आर्थिक गतिशीलता में निहित हैं। आज़ाद भारत की सरकार ने अपना दफ़्तर शहर में ही खोला और शहर में ही भारतीय समाज के आधुनिकीकरण और विकास का नेहरूवादी स्वप्न परवान चढ़ा। यहीं से विकास की तरंगे गाँव की ओर गईं। शहर में ही आधुनिकता के गर्भ से वे अंतर्विरोध निकले जिन्होंने राष्ट्रीय जीवन का निर्माण किया। जिस दिन भारत लोकतांत्रिक गणतंत्र बना, उसी दिन से उसने इन अंतर्विरोधों को अपना लिया था। इन शहरों में मानवीय श्रम के सभी ऐतिहासिक रूप देखे जा सकते

हैं। पत्थर तोड़ते मजदूर भी और अत्याधुनिक वित्तीय लेन देन करने वाले विशेषज्ञ भी। शहर में सफलता और असफलता एवं संगमरमर और कीचड़ एक दूसरे से गुंथे हुए हैं। इस विरोधाभास ने शहरी जीवन को एक बेहद उत्तेजक अनुभव में बदल दिया है। शहर में आधुनिकता के सभी प्रलोभन मौजूद हैं लेकिन शहर में आकर ही लोगों को आधुनिक जगत की मृगतृष्णा का अहसास होता है।''[5]

शहर इस द्वैध के सबसे अच्छे वाहक हैं जिस द्वैध से 'आधुनिक भारतीय राष्ट्र-राज्य', हमेशा जूझता रहा है। सीधे शब्दों में इसे 'आधुनिकता', के विचार से मुठभेड़ कह सकते हैं। आधुनिक भारत के सबसे प्रभावशाली व्यक्तित्व जवाहरलाल नेहरू ने 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया', में लिखा, ''भारत मेरी धमनियों में बह रहा था और उसमें बहुत कुछ ऐसा था जो मुझे आकर्षित करता था। फिर भी मैंने एक अजनबी आलोचक की नज़र से उसे समझा क्योंकि उसका वर्तमान मुझे पूरी तरह नापसंद था। साथ ही मेरी जानकारी में उसके अतीत के कई अवशेष ऐसे थे जिनसे मुझे गहरी अरुचि थी। एक तरह से मैं भारत के नज़दीक पश्चिम के ज़रिये आया और उसे एक हमदर्द पश्चिमवासी की तरह ही देखा। मैं भारत के नज़रिये और चेहरे को बदलने के लिए आतुर और बेचैन था। मैं उसे आधुनिकता का लबादा पहनाना चाहता था। पर मेरे दिमाग में शंकाओं ने सर उठा लिया। क्या मैं भारत को जानता हूँ?''[6]

राष्ट्रवादी परंपरा में मौजूद 'आधुनिकता', की यह समझ जिससे नेहरू जैसे राष्ट्रवादी नेता अनुप्राणित हैं, आधुनिकता का यह मॉडल पश्चिम की देन है। नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया', औपनिवेशिक दृष्टि के इतिहास लेखन का अनुपम उदाहरण है। नेहरू छः हजार साल के भारतीय इतिहास को एक लड़ी में पिरोते हुए एक 'आधुनिक राष्ट्र-राज्य', की अपनी कल्पना को आयाम देते हैं। यह 'भारतीयता', की परिभाषा गढ़ने की कोशिश है चाहे वह 'अनेकता में एकता', जैसे मुहावरे से ही क्यों न निकली हो। नेहरू लिखते हैं,'' समय के साथ हममें बहुत परिवर्तन आया है और हम कभी वैसे नहीं रहे जैसे पहले थे। लेकिन मैं हमेशा यह तथ्य रखता हूँ कि भारतीय और चीनी सभ्यताओं ने अद्‌भुत क्षमता प्रदर्शित की है, इतने सालों तक बने रहने और दूसरों को अपने में समाहित कर लेने की क्षमता। इतने बदलावों के बाद भी इन सभ्यताओं ने अपनी मूल पहचान को बचाकर रखा है।''[7] गौरतलब है कि नेहरू की यूरोपीय दृष्टि इसे एक ख़ास आधुनिक तेवर देती है। भारतीय राष्ट्रवाद की यह धारा उपनिवेशवाद से मुकाबले के लिए उनकी ही दी हुई एक समरूपीकृत 'राष्ट्र-राज्य', की अवधारणा को काम में लेती है। लेकिन भारतीय राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद से मुकाबले के लिए एक द्वैध रचता है-भौतिक और आध्यात्मिक।

राष्ट्र की अवधारणा तथा भारतीय राष्ट्रवाद

बेनेडिक्ट एण्डरसन लिखते हैं कि 'राष्ट्र, एक काल्पनिक या अमूर्त अवधारणा है जो विभिन्न तरीकों से समाज में अस्तित्व ग्रहण करता है। इन तरीकों को हम एक शब्द में 'मौद्रिक पूंजीवाद, (छापाखाना) कह सकते हैं।[8] भारत के संबंध में पार्थ चटर्जी द्वारा दी गई मशहूर व्याख्या निम्न है, ''मेरा मानना है कि उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवादी सत्ता से लड़ाई शुरु होने के काफ़ी पहले ही

औपनिवेशिक समाज के अंदर अपना एक बहुत स्पष्ट और स्वायत्त प्रभाव क्षेत्र कायम कर लिया था। इसने सामाजिक संस्थाओं और लोकाचार को स्पष्टतः दो हिस्सों-भौतिक और आध्यात्मिक- में बाँटकर ऐसा किया था। भौतिक क्षेत्र बाहरी है जो अर्थव्यवस्था, शासन प्रबंध और विज्ञान तथा तकनीक से जुड़ा है। इस क्षेत्र में पश्चिम ने अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित कर दी है तथा पूरब ने इसके आगे हार मान ली है। तब इस क्षेत्र में पश्चिमी प्रभुत्व को स्वीकारना ही था साथ ही साथ इसकी उपलब्धियों को सावधानीपूर्वक देखने और इसे अपने यहाँ हासिल करने का यत्न करने की ज़रूरत थी। दूसरी तरफ आध्यात्मिक क्षेत्र आंतरिक है और इससे सांस्कृतिक पहचान जुड़ी है। भौतिक क्षेत्र में जहाँ पश्चिम का अनुकरण करते हुए हम जितना ज़्यादा सफल होते हैं हमें अपनी आध्यात्मिक संस्कृति की विशिष्टता को बचाने की उतनी ही ज़रूरत होती है। मुझे लगता है कि यह एशिया और अफ्रीका के उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन का एक विशिष्ट पक्ष है।''[9]

भारतीय राष्ट्रवाद का यह द्वैध औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक भारत के सार्वजनिक जीवन पर गहरा असर डालता रहा है। हमारे लिए इस तमाम बहस को समझना इसलिए कारगर है क्योंकि 'औपनिवेशिक शहर', की रचना में इस राष्ट्रवादी धारा ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। जैसा सुनील खिलनानी लिखते हैं, ''समकालीन भारत के सभी प्रमुख नगर उपनिवेशवाद की रचना होने के साथ-साथ इसके प्रत्युत्तर भी है।''[10] बाह्य और आंतरिक घेरों में बंटी इस राष्ट्रवादी विचारधारा ने समाज के अन्य पक्षों को भी प्रभावित किया था। जैसा पार्थ चटर्जी एक अन्य उदाहरण में 'महिलाओं के प्रश्न', को लेकर लिखते हैं कि जो प्रश्न उन्नीसवीं सदी के आरंभिक और मध्य भागों में सामाजिक सुधार को लेकर चलने वाली बहसों का केन्द्रीय विषय रहा वही उन्नीसवीं सदी के अंत तक सार्वजनिक बहसों की सूची से बाहर हो चुका था। इस समय के प्रमुख प्रश्न सीधे-सीधे राजनैतिक प्रश्न थे जो राष्ट्रवादी राजनीति से संबंधित थे।[11]

भारतीय राष्ट्रवाद के द्वैध से उपजा यह तर्क आगे चलकर किस तरह की प्रतिक्रियावादी राजनीति को पोषण दे सकता है इस ओर अमर्त्य सेन इशारा करते हैं। यह समझना इसलिए भी जरूरी है कि आज के हमारे शहर का चेहरा इसी राजनीति को मिलाकर बनता है, शहर ही इसके लिए मंच है। अमर्त्य सेन लिखते हैं, ''निसंदेह आध्यात्मिक पक्ष पर गौर करने से गुलाम देश के आत्मविश्वास के बने रहने वाला पहलू ज़्यादा स्पष्ट ढंग से सामने आता है। लेकिन आज चलने वाले संघर्षों और टकरावों के संदर्भ में आत्मविश्वास को जांचने का यह मार्ग हमसे काफी बड़ी कीमत वसूलता है और विज्ञान तथा तकनीक की प्रगति के रास्तों को बहुत मुश्किल बना देता है तथा पीछे की तरफ देखनेवाली राजनीति की ज़रूरत से ज़्यादा मदद दे देता है। यह न होता तो धार्मिक कट्टरपंथी राजनीति इतना नहीं फैलती।''[12]

स्पष्ट है कि राष्ट्रवादी विचारधारा ने सार्वजनिक और निजी के दो घेरे बनाकर एक घेरे में 'आधुनिकता' को अपनाने तथा दूसरे में अपनी सांस्कृतिक पहचान (जिसमें शामिल बहुत सी चीजों की पहले आये आधुनिकता के विचार से सीधी टकराहट थी) को बचाकर रखने का जो दोहरा प्रयोग किया उसके अन्तर्विरोध जल्दी ही सामने आ गए। आज हमारे शहरों में इन दो घेरों के बीच की रेखा धुंधला सी गई है और निजी क्षेत्र के माने गए प्रश्न सार्वजनिक क्षेत्र में घुसपैठ कर रहे हैं। इनका एक रूप

सार्वजनिक क्षेत्र पर छाई अस्मिता की राजनीति है, वहीं धार्मिक पहचान को उभारती कट्टरपंथी राजनीति इसका विकृत रूप है। धर्म जैसे प्रश्न जो निजी घेरे के माने गए थे अब राजनीति जैसे सार्वजनिक दायरे के सवालों में घुस गए हैं। ये तमाम पहचानें 'आधुनिकता', के विचार से टकरा रही हैं और हमारी आधुनिकता का 'मॉडल रूप', भी छिन्न-भिन्न हो गया है। हालिया दौर में शहरों में फैल रहे 'आधुनिकता', और 'धर्म', के इस विकृत रूप की सबसे अच्छी अनुगूंज उदय प्रकाश की कहानियों में सुनी जा सकती है।

उत्तर–औपनिवेशिक शहर की अवधारणा

नेहरू 'शहर' की संरचना में हस्तक्षेप द्वारा अपने आधुनिकता के सपने को लिबास देना चाहते थे। लेकिन जब सिर्फ़ सार्वजनिक क्षेत्र में अपनायी गई आधुनिकता पर निजी क्षेत्र में गिनी गई पहचानों ने हमला बोला तो इस दोहरी विचार प्रणाली के पेंच खुलकर सामने आ गए। यहाँ आप चंडीगढ़ का ही उदाहरण लें। चंडीगढ़ नेहरू की स्वप्न योजना थी। नेहरू अपनी आधुनिकता की अवधारणा को इस शहर की संरचना के माध्यम से अमली जामा पहनाना चाहते थे। जैसा सुनील खिलनानी लिखते हैं ''नेहरू आज़ाद भारत के लिए शहर का नवीनीकरण करना चाहते थे। वे औपनिवेशिक क़िस्म की आधुनिकता से मुक्त और अलग तरह की आधुनिकता के शोकेस के रूप में नया शहर रचना चाहते थे। चंडीगढ़ की रचना के पीछे वह बुनियादी संकेत निहित था जिसके ज़रिए आधुनिक विश्व में भारत ने अपनी दिशा और अपने स्थान का निर्धारण किया था। इस तरह चंडीगढ़ अपने आप में रचनाशीलता के उस विशुद्ध आवेग का प्रमाण बन गया जो शहर संबंधी राष्ट्रवादी समझ की उपज था।''[13] इस प्रकार राष्ट्रवादी सोच ने चंडीगढ़ को 'आधुनिकता', के मॉडल शहर के तौरपर तैयार किया था। लेकिन इस 'आधुनिकता', पर जब निजी पहचानों ने अपना हमला बोला तो यह एक खंडित पहचान बनकर रह गई। आज का चंडीगढ़ इस बात का उदाहरण है कि दो खानों में बांटकर आधुनिक बनने का यह सुविधाजनक मॉडल अपनी कीमत वसूलता है। ''चंडीगढ़ को जिस सार्वदेशिकता की आकांक्षा थी, वह उसे कभी हासिल नहीं हो सकी। बजाए इसके कि भविष्य का यह शहर समाज पर शासन करता, उसे प्रबुद्ध बनाता और उसका आधुनिकीकरण करता, वह खुद ही अजायबघर की चीज़ बन गया। वह धर्मनिरपेक्ष व्यक्तियों के समाज को जन्म नहीं दे पाया और ना ही आधुनिकतावादी राजनीति का आधार बन पाया। पंजाब की खदबदाती राजनीति में फंसकर चंडीगढ़ की हैसियत सांप्रदायिक अस्मिताओं के बीच नगण्य हो गई।''[14]

अस्मिताओं की राजनीति और भारतीय शहर

मुम्बई जैसे भारत के सबसे आधुनिक महानगर ने भी 'महाराष्ट्र नवनिनिर्माण सेना' के नेता राज ठाकरे के माध्यम से सार्वजनिक राजनीति का यह नया रूप देखा है। हालांकि शरित भौमिक जैसे विद्वान *तहलका* में लिखते हैं कि राजनीति का यह उक्त रूप साठ और सत्तर के दशक में शुरू हुई 'शिव सेना,

राजनीति का ही नया रूप है।[15] यहाँ क्षेत्रीय तथा भाषायी पहचान, धर्म, राजनीतिक को मिलाकर राजनीति का एक ऐसा मॉडल तैयार किया जा रहा है जो सभी क्षेत्रीय सीमाओं से परे जाकर एक 'अंतरराष्ट्रीय आधुनिक महानगर', बनने के मुम्बई के सपने से सीधा टकराता है।

इसी सच्चाई को समझने की जरूरत है कि जिस सुविधाजनक तरीके से आधुनिकता के लबादे को ऊपर-ऊपर से ओढ़ने की कोशिश हिन्दुस्तान के राष्ट्रवादी प्रबुद्ध ने की, उससे भीतर मौजूद अंतर्विरोध कुछ देर के लिए छिप तो गए लेकिन शहरी जीवन की आपधापी में अब वे अपना असली रंग दिखा रहे हैं। यहाँ 'शहर' के भीतर क्षेत्रीय पहचान जितनी महत्वपूर्ण है उतनी ही महत्वपूर्ण आर्थिक हैसियत भी है। आज से तीस साल पहले 'शिव सेना, ने मध्यवर्गीय दक्षिण भारतीयों को निशाना बनाया था तो आज महाराष्ट्र नवर्निमाण सेना' के निशाने पर गरीब उत्तर भारतीय तबका है।[16] और आज के शहरी जीवन में ये तमाम पहचानें मिलकर 'आधुनिकता' का एक नया संस्करण गढ़ रही हैं। यह नेहरू की देन 'सार्वभौम आधुनिकता', नहीं है जो तमाम अन्य पहचानों को निजी के घेरे में डालकर छिपाने की कोशिश करती है बल्कि यह आधुनिकता का मॉडल अपने तमाम अन्तर्विरोधों के साथ हमारे सामने आता है। आप मुम्बई का उदाहरण ही देख सकते हैं जहाँ प्रगतिशील और उदार खेमे से जुड़े माने जाने वाले महेश भट्ट जैसे फिल्मकार 'क्षेत्रीय अस्मिता' के सवाल पर राज ठाकरे के सर्मथन में खड़े नजर आते हैं। मराठी अस्मिता के सवाल पर वे कहते हैं, ''मैं पूरी तरह मराठी मानुस'' मराठी संस्कृति, मराठा गौरव के पक्ष में हूँ। मेरा मानना है कि एक मुम्बईकर होने के नाते आपमें यहाँ की मूल संस्कृति के प्रति एक असली प्रेमभाव होना ही चाहिए। वैश्वीकरण के इस युग में यही संस्कृति सराही जाएगी। मैं आपको एक उदाहरण देता हूँ, यह शहर हजारों बॉलीवुड फिल्मों का निर्माण स्थल है, लेकिन क्या कोई यहाँ के मूल निवासियों की चिंता करता है? फिल्म सिटी के स्थानीय लोग जो तकलीफ में हैं? इस मामले में तो मैं शिव सेना तथा राज ठाकरे से भी सहमत हूँ। आखिर कौन यहाँ के स्थानीय निवासी की उन्नति की बात करेगा?''[17]

पवन कुमार वर्मा जैसे विचारकों का कहना है कि नेहरू की 'आधुनिक विश्व-दृष्टि', में ही अनुदारवादी धार्मिक विचारों को अपने भीतर समाहित करने के लिए सुराख छोड़ा गया था। बहुत से लोग इसे एक भूल कहते हैं और बहुत इसे एक सोची-समझी रणनीति मानते हैं। वर्मा लिखते हैं, ''संगठित धर्म के प्रति नेहरू की अरूचि में उनके मध्यवर्गीय अनुयायी पूरी तरह भागीदार नहीं थे। नेहरू की आधुनिकतावादी दृष्टि मध्यवर्ग को आकर्षित तो करती थी, लेकिन इस दृष्टि को कभी रूपांतरकारी शैली में कार्यान्वित नहीं किया गया। मृत अतीत की जकड़ से मुक्ति की नेहरूवादी दृष्टि के समर्थन का अर्थ था उस सामाजिक आग्रह का अंग बनना जिसके तहत व्यक्ति उदारवादी और प्रगतिशील वैचारिक जगत की ऊर्ध्वगामिता को स्वीकार कर लेता है। मध्यवर्गीय भारतीय अपनी छवि में यह आयाम भी शामिल करना चाहते थे। उन्हें इसमें कोई दिककत भी नहीं हुई क्योंकि इसका और धार्मिक परंपरा का मेल आसानी से हो सकता था। व्यक्ति उदार और प्रगतिशील भी बना रह सकता था और कर्मकांडों, अंधविश्वासों और पूर्वाग्रहों का पालन भी करता रह सकता था। नेहरू की मृत्यु और गाँधी-नेहरू विरासत के प्रभावहीन हो जाने के पश्चात कथनी और करनी के सार्वजनिक वक्तव्य और दावों को भी तिलांजलि

दे दी गई।''[18]

यहाँ दो बिन्दुओं पर गौर करना ज़रूरी है। एक, नेहरू की आधुनिकतावादी दृष्टि की फांक को उजागर करने के बावजूद वर्मा बाद के समय में आये धार्मिक, क्षेत्रीय, भाषायी, जातिवादी पहचानों के राष्ट्रीय राजनीति के सार्वजनिक मंच पर उभार को एक नकारात्मक तथ्य की तरह देखते हैं। वर्मा खुद उस अभिजात्य उदारवादी खेमे के प्रतिनिधि स्वर हैं जो नेहरूवियन आधुनिकता के मॉडल से सबसे ज्यादा जुड़ाव महसूस करता रहा है। यहॉ। आशिश नंदी जैसे सामाजिक विचारकों का नज़रिया अलग तरह का है। हालांकि राष्ट्रवाद की जो विचार प्रणाली भारतीय राष्ट्र-राज्य की स्थापना में काम कर रही थी उसे लेकर नंदी भी कमोबेश वही मत सामने रखते हैं कि यह 'राष्ट्र-राज्य' का पश्चिम से उधार लिया गया मॉडल था जिसमें सार्वजनिक और निजी का द्वैध कायम कर उसे एक बड़े जनसमुदाय की नज़र में स्वीकृत बनाने का काम किया गया। नंदी लिखते हैं, ''जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, बाबा साहब अंबेडकर में कितने ही विचारधारात्मक मतभेद रहे हों, लेकिन वह तीनों एक ऐसे राज्य की स्थापना पर एकमत थे जो सत्रहवीं शताब्दी के बाद यूरोप में पनपी राष्ट्र-राज्य की अवधारणा से थोड़ा ही अलग था।... स्वाधीनता के पश्चात उभरे अभिजात्य वर्ग की राज्य संबंधी अवधारणा राजनीतिक रूप से विकसित, समाजों में प्रचलित अवधारणा से उधार ली गई थी। चूंकि हमारा अभिजात्य वर्ग राज्य के इस विचार में निहित समस्याओं से अनभिज्ञ नहीं था, इसलिए उसने भारत की तथाकथित अभागी और आदम विविधताओं के साथ समझौता करके थोड़ा मिलावटी विचार विकसित किया।.... कुछ लोग इस समझौते को पाखंड की ठेठ हिंदू प्रवृति का परिणाम भी मान सकते हैं।... नये अभिजात्य वर्ग ने शासन कला की आयातित धारणा से काम चलाना चाहा। लेकिन उसने इस कला का उन ज़रूरतों के साथ तालमेल बिठाने का यत्न किया जो उसकी निगाह में इस देश की ज़रूरतें थीं। साथ में, उसने वैधता हासिल करने के लिए भारत की महान सांस्कृतिक परंपरा का मुहावरा भी अपनाया।''[19] लेकिन भारत के सार्वजनिक जीवन में बाद के सालों में आये परिवर्तन को आशिस नंदी अलग नज़रिये से देखते हैं। वे इसे सीधे वर्मा की तरह 'मूल्यों के ह्रास' के नकारात्मक खांचे में ना डालकर इन परिवर्तनों को 'आधुनिकता, की वृहद परियोजना के सामने कालीन के नीचे दबा दी गई पहचानों के सार्वजनिक उभार के तौर पर चिह्नित करते हैं। ज़ाहिर है कि उनकी नज़र में ये ऐसे परिवर्तन हैं जिसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू हैं।

एक ओर उभर कर आ रही ये विभिन्न अस्मिताएं 'आधुनिक भारतीय राष्ट्र-राज्य' का रूप बदल रही हैं वहीं दूसरी ओर ये उस बहुलता को भारतीय राजनीति तथा सार्वजनिक जीवन का हिस्सा बना रही हैं जो हमारे लोकतंत्र का सबसे विशेष पहलू बनकर उभरा है। नंदी लिखते हैं, ''भारतीय जनता का आधुनिक हिस्सा समझता है कि अंततः इस देश को उदारतावादी लोकतंत्र के पश्चिम यूरोपीय अनुभव की प्रतिकृति ही बन जाना है, तभी वह सत्रहवीं सदी के ज्ञानोदय से इक्कीसवीं सदी के शुरुआती दौर के प्रौद्यौगिकीय पूंजीवाद तक का रास्ता तय कर सकेगा। लेकिन आधुनिकतावादियों के दायरे से बाहर के लोग देश का भविष्य इस तरह पूर्वनिर्धारित नहीं मानते। उनके लिए विज्ञान के बढ़ते कदम या विकास के दर्शनीय सोपान ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं हैं, बल्कि वे अपने लोकतांत्रिक भविष्य की गारंटी को भागीदारी

वाले लोकतंत्र से जोड़ते हैं। भारत में विकास और आधुनिक विज्ञान-संबंधी विचारों के खिलाफ़ बढ़ता हुआ प्रतिरोध असल में इन विचारों और लोकतांत्रिक प्रक्रिया के बीच अंतर्विरोधों की ही देन है। आज़ादी के विचार को वैज्ञानिक तर्कबुद्धि और सफल विकास में पूरी तरह अंतर्निहित मानने वालों को यह अंतर्विरोध विनाशकारी लगता है। लेकिन जो लोग इस घिसी-पिटी धारणा की भित्ति को अपने चारों ओर दरकते हुए देख रहे हैं, उनके लिए यह स्वागत योग्य है क्योंकि इससे ज्ञान-प्रणालियों और सामाजिक हस्तक्षेप के तरीकों का विविधीकरण और राजनीतिकरण हो रहा है।''[20] नंदी जैसे विचारक 'राष्ट्र-राज्य' में टूटते हुए केन्द्रीय प्रभुत्व तथा हाशिए की पहचानों की बढ़ती सक्रियता को एक सकारात्मक परिवर्तन के रूप में ग्रहण कर रहे हैं।

दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु जो वर्मा के निष्कर्ष में गौर करने का है वो यह है कि वे आधुनिकता के मॉडल में आए इस परितर्वन का सीधा संबंध बेतहाशा हुए शहरीकरण से जोड़ते हैं। उनका मानना है कि सामुदायिक पहचानों की वापसी के पीछे एक बड़ा कारण शहरीकरण का वह अनुभव है जिससे हमारी पीढ़ी का सामना हुआ। वे लिखते हैं, ''कई मध्यमवर्गीय परिवारों को लगा कि उनकी एक पीढ़ी को ही इतने अधिक और तेज़ परिवर्तन से दो-चार होना पड़ रहा है कि उसे पचाना मुश्किल है। मध्य वर्ग में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जिनकी शिक्षा गाँव के स्कूल और बगल के कस्बाई कॉलेज में हुई, लेकिन नौकरी करने के लिए उन्हें महानगर में जाना पड़ा। एक दशक की अवधि में उन्होंने एक शताब्दी के परिवर्तनों को देखा; एकदम नया माहौल, नई प्रौद्योगिकी, नई मान्यताएँ, नया कौशल, नई उम्मीदें और नई जीवन शैली से उनका साबका पड़ा।''[21] वे धर्म तथा समुदायगत पहचानों के सार्वजनिक जीवन में फिर आये उभार के पीछे इसे एक प्रमुख कारण मानते हैं।

संदर्भ

(1). दि पार्थ चटर्जी ऑम्निबस, पार्थ चटर्जी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, सातवीं आवृति 2008, नई दिल्ली, पृष्ठ-11 (2). अब भी बसंत को तुम्हारी ज़रूरत है (रिल्के की कविताएं), चयन एवं अनुवाद-अनामिका, साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण 2004 नई दिल्ली, पृष्ठ-18. (3). द कंट्री एण्ड द सिटी, रेमंड विलियम्स, अविनाश कुमार द्वारा उद्धृत, दीवान-ए-सराय 02: शहरनामा, वाणी प्रकाशन, 2005, नई दिल्ली, पृष्ठ-25 (4). अतीत में जाना तो एक ट्राम पकड़ लो, गीत चतुर्वेदी, पहल 89 संपादक-ज्ञानरंजन, 2008 जबलपुर, पृष्ठ34 (5). भारतनामा, सुनील खिलनानी, अनुवाद- अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2001, नई दिल्ली, पृष्ठ 123 (6). दि डिस्कवरी ऑफ इंडिया, जवाहरलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल फंड, सत्रहवीं आवृत्ति, 1997, नई दिल्ली, पृष्ठ-50 (7). नेशनल आइडेंटिटी इन इंडियन पॉपुलर सिनेमा 1947-

87, सुमिता एस. चक्रवर्ती, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1998, नई दिल्ली, पृष्ठ 18-22 (8). बेनेडिक्ट एडरसन, इमेजिंड कम्युनिटीस, दि नेशन एंड इट्स फ्रेग्मेंट्स, पार्थ चटर्जी द्वारा उद्धृत, ऑक्सफोर्ड युनिवसिर्टी प्रेस, 1995 नई दिल्ली, पृष्ठ-4 (9). दि नेशन एंड इट्स फ्रेग्मेंट्स, पार्थ चटर्जी, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1995 नई दिल्ली, पृष्ठ-9 (10). भारतनामा, सुनील खिलनानी, अनुवाद- अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2001, नई दिल्ली, पृष्ठ 123 (11). राष्ट्र और उसकी महिलाएं, पार्थ चटर्जी, निम्नवर्गीय प्रसंग II, संपादक- शाहिद अमीन और ज्ञानेन्द्र पांडेय, राजकमल प्रकाशन, 2002, नई दिल्ली पृष्ठ-52. (12). अतीत का वर्तमान, अमर्त्य सेन, अनुवाद- अरविंद मोहन, ग्रंथ शिल्पी प्रथम हिंदी संस्करण 2002, नई दिल्ली, पृष्ठ-35 (13). भारतनामा, सुनील खिलनानी, अनुवाद- अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2001, नई दिल्ली, पृष्ठ-144 (14). वही, पृष्ठ 149 (15). ओल्ड ग्रूसेस, न्यू टारगेटस, शरित भौमिक, तहलका, संपादक-तरुण तेजपाल, सोलह फरवरी 2008, पृष्ठ-37 (16). वही, पृष्ठ-37 (17). मुम्बई कटिंग, महेश भट्ट (साक्षात्कार), तहलका, संपादक-तरुण तेजपाल, चार अक्टूबर 2008, पृष्ठ 53 (18). भारत के मध्य वर्ग की अजीब दास्तान, पवन कुमार वर्मा, अनुवाद-अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, पहला संस्करण 1999 नई दिल्ली, पृष्ठ-129 (19). नयी राजनीतिक संस्कृति, आशिस नंदी; लोकतंत्र के सात अध्याय, संपादक-अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, पहला संस्करण 2002, नई दिल्ली, पृष्ठ-147 (20). वही, पृष्ठ-196 (21). भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान, पवन कुमार वर्मा, अनुवाद-अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण 1999, नई दिल्ली, पृष्ठ-130

निर्मल वर्मा और भारतीय राष्ट्र–राज्य का अनैतिहासिक परिप्रेक्ष्य

अवधेश

निर्मल वर्मा राष्ट्र को सांस्कृतिक इकाई के रूप में परिकल्पित करते हैं और इसे सनातन काल से अस्तित्वमान मानते हैं। वे इतिहास का निषेध करते हैं और भारत के उपनिवेशीकरण को आध्यात्मिक संकट के बतौर देखते हैं। उनका मानना है कि सनातन भारतीय संस्कृति अखंड कालबोध की संस्कृति है, जिसमें यूरोपीय संस्कृति से अंतःक्रिया ने फांक डाल दी है। उनको हर उस दर्शन और व्यवस्था से आपत्ति है जो मनुष्य केन्द्रित है। क्योंकि यूरोप ने जिस मनुष्य केन्द्रित दर्शन को जन्म दिया उसी से इतिहास भी पैदा हुआ और अखंड कालबोध को इसी इतिहास ने अतीत, वर्तमान और भविष्य में खंडित कर दिया। यही इतिहास चेतना ही उन्हें सब दुःखों का मूल दिखाई पड़ती है। ''एक राज्य की बनावट के पीछे हमेशा एक संस्कृति की बुनावट छिपी रहती है, किन्तु स्वयं संस्कृति का आकार बहुत अंशों में उन बिम्बों द्वारा निर्धारित होता है, जो स्वयं मनुष्य अपने बारे में संजोता है। ईसाई धर्म में जिस तरह ईश्वर की कल्पना मनुष्य के रूप में की गई है, उसी तरह यूरोपीय मनुष्य ने अपने रूप में राज्यतंत्र और समाज व्यवस्था की परिकल्पना की है। दोनों में ही 'मनुष्य' केन्द्र में है जो उसे एक तरफ 'ईश्वर' दूसरी तरफ बाहरी जगत से जोड़ता है। अतः पिछले तीन सौ वर्षों में-विशेषकर रेनेसां के बाद- यूरोप में जिन राज्य-तन्त्रों की स्थापना हुई, उसका सांस्कृतिक स्रोत वह छवि थी जो मनुष्य ने अपने बारे में बनायी थी।''[1] निर्मल वर्मा मनुष्य केन्द्रित यूरोपीय रेनेसां और यूरोपीय राष्ट्र-राज्य को भारतीयता के अनुकूल नहीं पाते। उन्हें लगता है कि मनुष्य केन्द्रित यूरोपीय सभ्यता ने प्रकृति के साथ मनुष्य के अलगाव और खंडित कालबोध को जन्म दिया और इसी चेतना के चलते मनुष्य और प्रकृति के बीच अलगाव उत्पन्न हुआ। वे मानव सभ्यता के विकासक्रम में मानवीय श्रम के शोषण और श्रमिक को उसके श्रम के फल से अलग किए जाने के चलते पैदा हुए अजनबीपन की एक वायवीय दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए उन्हें लगता है कि—''यह ऐतिहासिक संयोग नहीं कि यूरोप में व्यक्तिनिष्ठ मनुष्य का अकेलापन और स्वतंत्र राष्ट्रों का आक्रामक आत्मबोध समय के एक बिन्दु पर ही विकसित हुआ था।''[2] अब इस बात का आधार तैयार हो जाता है कि जिस भारतीय सभ्यता में

आत्म और पर का द्वैध नहीं था, वहां मनुष्य के अजनबीपन का ठीकरा भारतीय सभ्यता पर यूरोपीय प्रभाव के मत्थे मढ़ दिया जाए। निर्मल वर्मा भारतीय अतीत की (जो उनके लेखे कभी व्यतीत ही नहीं होता) जो रूमानी और मोनोलिथिक तस्वीर खींचते हैं उसमें चारों ओर इस तरह सौहार्द्र व्याप्त है कि पूरा समाज अंतर्विरोधविहीन दिखाई पड़ता है। ''यूरोप दुनिया नहीं है और दुनिया में यूरोप के बाहर ऐसी जातियां, जनसमूह और जीवनपद्धतियां रही हैं जो अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए किसी भी केन्द्रीय आत्म-सीमित राज्य-सत्ता का मुंह नहीं जोहतीं। यदि ये जनसमूह हजारों वर्षों से जीवित रहे हैं, तो किसी राज्य-सत्ता के आतंक अथवा बलप्रयोग पर नहीं, बल्कि उन सहज और जीवनदायी विश्वासों के कारण जो उन्हें भूमि के एक खण्ड पर एक साथ रहने की अर्थवत्ता और सुरक्षा प्रदान करते हैं।भूमि का यह खण्ड-देश-यदि पवित्र और महत्त्वपूर्ण है, तो इसलिए कि वह उसे बाकी विश्व से जोड़ता है, इसलिए नहीं कि वह उसे दूसरों से अलग करके भूगोल की राष्ट्रीय सीमाओं में आबद्ध करता है।''[3] यहाँ निर्मल वर्मा यूरोपीय केन्द्रीय सत्ता व्यवस्था को भारतीय व्यवस्था के विपरीत पाते हैं। फिर भारत में रहने वालों के जीवनदायी विश्वासों को महत्वपूर्ण पाते हैं। अब सवाल यह है कि यूरोप से संपर्क में आने से पहले भारत में बड़े से बड़ा केन्द्रीय साम्राज्य स्थापित करने के लिए राजाओं और सामंतों के जो संषर्घ लंबे समय से चले आ रहे थे उनका क्या किया जाए? फिर जिन जीवनदायी विश्वासों का इतना मोहक वर्णन है उन्हीं के भीतर अमानवीय वर्ण व्यवस्था और अछूत प्रथा मौजूद थी। क्या अछूतों, स्त्रियों, खेत मजदूरों, किसानों और सामंतों के लिए इन विश्वासों और सुरक्षाओं का एक ही अर्थ था या अलग-अलग? इसका उत्तर निर्मलजी के पास नहीं है। जिस तरह यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के खिलाफ साहित्य में 'रोमांटिक' प्रतिक्रिया हुई और मनुष्य की मुक्ति को प्रकृति में तलाशने का प्रयत्न हुआ उसी तरह भारत में भी एक ऐसी धारा मौजूद थी जो औद्योगिकीकरण का विरोध करते हुए यथास्थिति को कायम रखना चाहती थी। गांधीजी को इस धारा का सर्वोच्च नेता माना जा सकता है,जो केन्द्रीय राजव्यवस्था और औद्योगिकीकरण, दोनों के खिलाफ थे। निर्मल वर्मा को भी इस बात का दुःख है कि हम यूरोपीय ढांचे के सत्ता-तंत्र के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि पहले की व्यवस्था में मौजूद मानव जीवन के मूलभूत सत्यों को मूर्तिमान कर सकने की स्थितियों के बारे में सोच भी नहीं सकते। उन्हीं के शब्दों में ''स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हम भारत को एक राष्ट्र, एक राज्य-तंत्र मानने के इतने अभ्यस्त हो चुके हैं यह विश्वास करना इतना मुश्किल लगता है इन सबसे पहले वह ऐसी सभ्यता का परिवेश रहा है, जिसके भीतर मनुष्य अपने जीवन के कुछ मूलभूत और मूल्यवान सत्यों को मूर्तिमान कर सके।''[4] यह अनुमान लगाना ज़रा मुश्किल है कि निर्मल वर्मा किन मूलभूत और मूल्यवान सत्यों के बारे में बात कर रहे हैं। उनका दावा उन्हें मूर्तिमान करने का भी है। यह पूछा जा सकता है कि यदि ऐसे मूल्यवान और मूलभूत जीवन सत्य होते भी हों तो क्या वे उन समाजों में सबके लिए एक ही थे? यदि किसी मनुष्य का मूलभूत और मूल्यवान सत्य किसी दूसरे के ऐसे ही सत्य के विपरीत पड़ता हो तो क्या ताकतवर और कमजोर सत्यों की बात नहीं उठेगी और यदि ऐसी स्थिति होती है तो क्या मनुष्य की समाज में ताकतवर या कमजोर स्थिति ही उनके सत्यों की ताकत या कमजोरी को निर्धारित नहीं करेगी?

निर्मल वर्मा यूरोपीय राष्ट्रीय चेतना के निर्माण और विज्ञान के विकास के चलते यूरोपीय लोगों की चेतना में हुए परिवर्तन को एक अवनति की तरह देखते हैं। समस्या यह है कि इतिहास के विकासक्रम में उत्तरोत्तर बदलते और जटिल होते सामाजिक संबंधों और मनुष्य के व्यक्ति में तब्दील होने को चाहे जितना अनिष्टकारी माना जाए, इस परिवर्तन को रोका नहीं जा सकता। इन परिवर्तनों के कुछ नियम हैं, जिन्हें समझकर मानव समाज की गति की दिशा को समझा जा सकता है। सनातनता की विचारधारा यथास्थितिवाद है। सामाजिक या वर्णगत उच्चता और निम्नता सनातन काल से है अतः सनातन काल तक रहेगी। इसलिए शोषण से मुक्त समाज की कल्पना करना अस्वाभाविक या अप्राकृतिक है। इसलिए मौजूद समाज-व्यवस्था को बनाए रखना शोषकों ही नहीं शोषितों की भी जिम्मेदारी है। यही प्रकृति का नियम है आदि। निर्मल वर्मा इन्हीं सीधी और बहुधा सुनी जाने वाली बातों को दार्शनिक और भव्य शब्दावली में पेश करते हैं। ऐसा समाज जो इन्हीं विचारों के इर्द-गिर्द, गतिहीनता की हालत में लंबे समय तक रहा है उसके लिए ये बातें सामान्यबोध जैसी हैं। यह अकारण नहीं है कि निर्मल वर्मा से असहमत, लेकिन असावधान लोगों के विचारों में भी निर्मल वर्मा की छाप दिखाई दे जाती है। निर्मल वर्मा संसार की हर परिघटना की व्याख्या अमूर्तीकरण के जरिए करते हैं। ''यूरोपीय मानस में जहां पहले एक वृहत्तर संस्कृति का बोध था, जो जाति, भाषा और भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ यूरोपीय मनुष्य को एक अखण्डित परम्परा में ढालता था- वहां अब उसकी जगह राष्ट्रीय अस्मिता और स्वचेतना का भाव अधिक महत्वपूर्ण था। बीसवीं शती तक आते-आते देशों की राष्ट्रीय भावना और यूरोप के सांस्कृतिक बोध के बीच खाई इतनी चौड़ी हो गई कि पिछले दो महायुद्धों में लाखों जर्मन, अंग्रेज और फ्रांसीसी एक दूसरे का विराट पैमाने पर संहार कर सकते थे बिना एक क्षण यह महसूस किए कि वे सब एक ही यूरोपीय सभ्यता और सांस्कृतिक परंपरा के उत्तराधिकारी हैं।''[5] यहां भी निर्मल वर्मा अपने चिर परिचित अंदाज में दो महायुद्धों के कारणों की पड़ताल में पूंजीवादी शक्तियों के बीच एक खास समय में बाजार पर वर्चस्व के लिए खड़ी हो उठी टकराहटों की जगह 'राष्ट्रीय भावना' और 'सांस्कृतिक बोध' के बीच की खाई में तलाशते हैं। यदि एक ही 'सभ्यता और सांस्कृतिक परंपरा के उत्तराधिकारी' एक दूसरे का कत्लेआम निर्मल जी के बताए उपरोक्त कारण के आधार पर ही करते हैं तो पुष्यमित्र शुंग द्वारा बौद्धों के संहार की व्याख्या कैसे की जाएगी? निर्मल वर्मा के उपरोक्त उद्धरण की भंगिमा भी गौरतलब है। अनायास नहीं है कि उनका वाक्य '.....जहां पहले....वहां अब....' की संरचना में आया है। यदि हम पूछें कि 'पहले' माने कितना पहले और 'अब' माने कब तो यह बात उद्घाटित हो जाएगी कि अखण्ड कालबोध कितना सुविधाजनक है। यह अखण्ड कालबोध जिसमें सब कुछ पूर्वनिर्धारित है, इस तरह के प्रश्नों की इजाजत नहीं देता। इसका टोन पौराणिक कथाओं जैसा है जिनमें कहानी आमतौर पर इस जुमले के साथ शुरू होती है कि 'बहुत समय पहले की बात है.....' इस तरह की कथाओं में यह भी देखा जा सकता है कि अलग-अलग युगों (समयों) में अलग-अलग वाचक, अलग-अलग स्रोताओं को एक ही काल में एक ही कथा सुना रहे होते हैं। काल की वृत्तीत गति की धारणा से ही यह संभव हो पाता है।

निर्मल वर्मा के पास एक वैकल्पिक परियोजना है। राष्ट्र को समझने और उसके महत्व को रेखांकित करने की वैज्ञानिक दृष्टि से इतर इस प्रक्कल्प ने देश के औपनिवेशिक अतीत के प्रभावों की पूरी कल्प-सृष्टि की है। पूरब और पश्चिम, यूरोप और भारत की अंतःक्रियाओं के प्रभावों की जैसी विशिष्ट व्याख्या निर्मल जी करते हैं, अन्यत्र दुर्लभ है। निर्मल जी की इस पूरी कल्प-सृष्टि का संकट यह है कि यह वर्तमान के आत्म-केन्द्रित व्यक्ति के हीनताबोध की उपज है। दूसरे यह कल्प-सृष्टि अपने लिए तो स्वर्ग रच लेती है लेकिन समाज के वंचित तबकों के लिए अपमान और भूख वाले गतिहीन समाज को काम्य मानती है। व्यक्तिगत रूप से निर्मलजी का यूरोप प्रेम क्या इसकी पुष्टि नहीं करता। बहरहाल, निर्मल वर्मा पश्चिमी शासन सत्ता की भारतीय समाज से हुई मुठभेड़ को इस तरह अभिव्यक्त करते हैं-''अंग्रेजी शासन सत्ता ने - पश्चिम के मॉडल पर- जिस प्रशासनिक ढांचे का निर्माण किया, उसमें एक भारतीय का यह समग्रता-बोध सिर्फ खंडित और आत्म-विभाजित हो सकता था। सभ्यता के समग्र बोध में जहाँ कभी सब मत और संप्रदाय और धर्म समाहित होते थे, विदेशी शासन की सेक्युलर और केन्द्रित राज्य-व्यवस्था के भीतर वे एक दूसरे से अलग हो गए। अंग्रेजों ने इस आत्म-विभाजन की प्रक्रिया को जानबूझकर प्रोत्साहित किया, या अनजाने में, यह प्रश्न अप्रासंगिक है; सच्चाई यह है कि उनकी शासन व्यवस्था ने भारत की समूची सभ्यता के तन्तुजाल को अलग-अलग धागों में बिखेर दिया।..... अब हम एक सांस्कृतिक परंपरा के उत्तराधिकारी नहीं रहे, उसकी जगह अब हम एक ऐसे 'इतिहास के नागरिक' बन गए, जहाँ एक तरफ हम प्रजा थे, दूसरी तरफ अलग-अलग संप्रदायों और जातियों में विभक्त आदिवासी, हिन्दू-मुसलमान और सिख।''[6] समग्रता-बोध, खंडित आत्मबोध, सांस्कृतिक परंपरा, इतिहास के नागरिक आदि ऐसे पदबंध हैं, जिनके जरिए वे भारतीय समाज के भीतर पहले से मौजूद विभाजनों से नजर बचाकर निकल जाते हैं मानो उनका कोई अस्तित्व ही न रहा हो और भारतीय संस्कृति को ऐसी इकाई के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो सनातनकाल से द्वंद्वरहित स्थिति में अस्तित्वमान है। निर्मल वर्मा की इस धारणा में कितनी सच्चाई है, कि हमारी 'इतिहास की नागरिकता' ने हमें संप्रदायों, जातियों आदि में विभक्त कर दिया, समझना कदापि मुश्किल नहीं। यह उसी प्रोजेक्ट का अंग है, जो ब्राह्य शक्तियों के बरअक़्स ही अपनी संस्कृति, सभ्यता या राष्ट्रवाद को एक किस्म की असुरक्षा के जरिए परिभाषित करता है। जिसके जरिए निर्मित आंतरिक एकता को वर्चस्वशाली तबकों की शक्ति को संवर्द्धित करने के लिए अर्पित कर दिया जाता है।

निर्मल वर्मा लगातार इतिहास चेतना और इतिहास से परेशान हैं। काल की चक्रीय अवधारणा सिर्फ निर्मल वर्मा की ही नहीं है। इसके पीछे एक लंबी दार्शनिक परंपरा देखी जा सकती है। मार्क्स ने हेगेल के संदर्भ में लिखा कि ''हेगेल ने एक जगह कहा है कि ऐसा लगता है कि विश्व-इतिहास में वे सभी घटनाएं और हस्तियां, जिनका भारी महत्व है, दो बार आविर्भूत हुई हैं। वे इतना और कहना भूल गए- पहली बार दुखान्त नाटक के रूप में दूसरी बार प्रहसन के रूप में।''[7]

भारतीय लोकतंत्र के बारे में चर्चा करने से पूर्व निर्मल वर्मा के इन विचारों की समीक्षा इसलिए जरूरी है कि लोकतंत्र अपने मौजूदा स्वरूप में तमाम विकृतियों के बावजूद कुछ लोगों के गले की फांस बना हुआ है। वे इस लोकतंत्र का नकार इसके अभारतीय या योरपीय चरित्र के कारण करते

हैं। भारतीयता, स्वदेशी और राष्ट्रगौरव के नाम पर एक अधिनायकवादी दृष्टि राजनीति, समाज और संस्कृति में सक्रिय है जो यूरोप के नकार का ढोंग तो करती है लेकिन अपनी विचारपद्धति से लेकर वेशभूषा तक में जर्मन फासिस्टों की नकल करती है। यह देखा जाना चाहिए कि संस्कृति के क्षेत्र में ऐसे विचार कहाँ से शक्ति ग्रहण करते हैं इनका दार्शनिक आधार कैसे निर्मित हुआ है। निर्मल वर्मा बड़ी बारीकी से कुछ मतभिन्नताओं के साथ इस तरह के विचारों को दार्शनिक आधार प्रदान करते हैं। वे स्वाधीनता आंदोलन के नेताओं की पश्चिमी शिक्षा और भविष्य के आदर्श के रूप में पश्चिमी राज्य-व्यवस्था को देखने के साथ उनके अतीत प्रेमी होने को एक अजूबे की तरह देखते हैं। इस 'एक साथ यूरोप-उपासक और अतीतोन्मुख' भारतीय को यूरोपीय इतिहास, चेतना खंडों में विभाजित करती है। ''राष्ट्रीय आंदोलन का एक शक्तिशाली, मुखर पक्ष ऐसे लोगों के हाथ में था जिनकी शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी शासन-व्यवस्था के सेक्युलर, यूरोपीय परिवेश में हुई थी। आज हम जिसे बंगाल का नवोत्थान आंदोलन कहते हैं, उसका मुख्य प्रेरणा-स्रोत यूरोप की ऐतिहासिक चेतना थी, जहाँ पुराने अतीत का गौरव भले ही वेद-उपनिषदों में निहित रहा हो किन्तु भविष्य का आदर्श यूरोप की वे मान्यताएं और मर्यादाएं थीं, जिनके आधार पर स्वतंत्र व्यक्ति, स्वायत्त राष्ट्रीय सत्ता और सेक्युलर केन्द्रीकृत शासनतंत्र के आदर्श एक-दूसरे के साथ जुड़े थे। दिलचस्प बात यह थी कि वह बुद्धिजीवी वर्ग यूरोपीय ऐतिहासिक चेतना से आक्रांत होने के बावजूद भारतीय अतीत का भी उपासक था- यदि एक तरफ उसके गौरवपूर्ण नायक गैरीबाल्डी और मैजिनी थे जो यूरोप की नयी, राष्ट्रीय किन्तु धर्मनिरपेक्ष चेतना के प्रतिनिधि थे, तो दूसरी तरफ उन्हें राणा प्रताप और शिवाजी जैसे शूरवीर योद्धाओं की गौरवगाथाएं भी अपने गौरवपूर्ण अतीत की याद दिलाती थीं। भविष्य का आदर्श कहीं सुदूर यूरोप में था। भारत का आदर्श कहीं सुदूर अतीत में- एक साथ यूरोप-उपासक और अतीतोन्मुख-बीच में पश्चिम की इतिहास-चेतना थी- जो दोनों को एक जीवन्त सभ्यताबोध से जोड़ने के बजाय अलग-अलग कालखण्डों में विभाजित करती थी।''[8] राष्ट्र-राज्य के रूप में भारत के संगठित होने की प्रक्रिया में भी इसी तरह की इतिहासविरोधी चेतना की चर्चा गांधीजी के संदर्भ में हम कर आए हैं। नेहरू आदि पश्चिमी शिक्षा प्राप्त बुर्जुआ नेताओं की राष्ट्र-राज्य के रूप में देश की परिकल्पना निश्चित रूप से यूरोपीय आधुनिक राष्ट्र-राज्यों से प्रभावित थी। लेकिन उत्पादन की प्रक्रिया में जो परिवर्तन आ चुके थे, सामंती उत्पादन की जगह पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया ने ले ली थी और उपनिवेशों के शोषण और दमन का जो लंबा दौर चल चुका था। उसके बाद गाँधीजी जिस ग्राम-स्वराज की परिकल्पना पेश कर रहे थे वह इतिहास की गति के विरुद्ध था। निर्मलजी जिस जीवन्त सभ्यताबोध से जुड़ना चाहते हैं, वास्तव में ऐसा सभ्यताबोध निर्मल जी के अतिरिक्त किसी और को भी था, या उसकी कभी कोई वस्तुगत सत्ता थी- उसके बारे में दावे से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वे उस सभ्यताबोध के खंडित होने की तो बार-बार चर्चा करते हैं लकिन उसके अस्तित्वमान होने के कारणों पर बात नहीं करते। इसीलिए स्वाधीनता आंदोलन की जिन दो धाराओं की चर्चा वे करते हैं उसमें से उन्हें एक का मुंह पूरब की तरफ, तो दूसरे का पश्चिम की तरफ दिखाई पड़ता है। ''यदि एक तरफ धर्म, जाति और संप्रदाय की अवधारणाएँ अतीत-बोध से प्रेरणा प्राप्त करती थीं तो राष्ट्र, केन्द्रीकृत राज्य-व्यवस्था, धर्म-

निरपेक्ष लोकतंत्र की भावनाएं यूरोप की ऐतिहासिक चेतना पर आधारित थीं। एक के लिए भारत का अतीत, दूसरे के लिए यूरोप का भविष्य ही सर्वोपरि था। इन दोनों के बीच भारतीय संस्कृति का परंपरा-बोध ही— जो अतीत को प्रासंगिक बनाता है और भविष्य को अर्थपूर्ण दिशा देता है— धीरे-धीरे लुप्त होता गया।''[9] फिर यहाँ भी पहेली यही है कि यह 'परंपरा-बोध' आखिर है क्या? क्या इस परंपरा में अंग्रेजों के आने से पहले आए तुर्क, मुगल आदि समाहित हैं या नहीं? जैसे ही यह असुविधाजनक प्रश्न उठाया जाता है वैसे ही 'भारतीय संस्कृति का परंपराबोध' हिंदू संस्कृति के परंपराबोध में परिवर्तित हो जाता है। निर्मल वर्मा यहाँ अपनी पद्धति में आचार्य शुक्ल की याद दिलाते हैं। जैसे आचार्य शुक्ल भक्ति आंदोलन में तुलसीदास के साथ-साथ जायसी और सूरदास को भी बड़ा कवि मानते हैं, लेकिन यदि उन्हें चुनना पड़ जाये तो तुलसीदास ही भक्ति आंदोलन के प्रतिनिधि कवि ठहरेंगे। उसी तरह निर्मल वर्मा हिंदुओं के अलावा बौद्धों और सिखों को भी भारतीय परंपरा का अंग मानते हैं लेकिन सहिष्णुता की तमाम बातें ही यह दिखाने के लिए पर्याप्त हैं कि वे यह मानते हैं कि हिंदू इनमें से कुछ को उदारतावश बर्दाश्त कर लेता है। इस्लाम तो ख़ैर आया ही तलवार के बल पर। उसके साथ सहिष्णुता कैसी? वे भारतीय परंपरा के निर्माण में हिंदू संप्रदाय से इतर संप्रदायों की भूमिका भले स्वीकार कर लें लेकिन अंततः 'धर्म की हिंदू अवधारणा' और 'राष्ट्रीय परंपरा' का नाभि-नाल संबंध ही उजागर करते हैं। ''यह इसी सभ्यताबोध की विजय थी कि विभाजन की भयानक विभीषिका के बावजूद भारत ने पाकिस्तान की नकल में तथाकथित धर्म के आधार पर हिंदू राष्ट्र की स्थापना नहीं की। इसलिए नहीं कि भारतीय परंपरा धर्म कि प्रति निरपेक्ष थी, बल्कि इसलिए कि धर्म की हिंदू-अवधारणा समूची राष्ट्रीय परंपरा में गुंथी थी, जिसे बनाने में अन्य सम्प्रदायों का भी उतना ही गहरा योग था, जितना हिंदुओं का। इस अर्थ में राष्ट्रीयता की अवधारणा यूरोप की संकीर्ण, सीमागत चेतना का अतिक्रमण कर लेती है।

इन्हीं अर्थों में यह भौगोलिक इकाई- जिसे हम भारत कहते हैं- पवित्र और सनातन है; गांधीजी अगर भौगोलिक अखंडता को महत्व देते थे तो सिर्फ अंधे देश-प्रेम अथवा किसी ऐतिहासिक पूर्वग्रह के कारण नहीं, बल्कि इसलिए कि किसी सभ्यता के जीवन्त तत्व भूमि के एक ऐसे खण्ड में ही प्राणवान रह सकते हैं, जिसके पेड़ों और पहाड़ों ने, नदी-नालों और धरती के विस्तार ने सदियों से एक संस्कृति की स्मृतियों को संजोया है।''[10] लेकिन क्या किसी एक भूखंड की एक ही संस्कृति होती है या अनेक संस्कृतियां होंगी? फिर उनकी स्मृतियां भी एक जैसी ही होंगी, ऐसा नहीं माना जा सकता। नदी-नालों और धरती के विस्तार के बीच अवस्थित मनुष्य का अंतर्विरोध सिर्फ प्रकृति से ही नहीं अपने समाज के भी बीच है, जो उसकी स्मृतियों पर ऐसे निशान छोड़ता है जिन्हें लंबे समय तक मिटाया नहीं जा सकता। निर्मल जी इतिहास के कठिन संघर्षों को स्मृतियों के जंगल में गुम कर देते हैं और एक दूसरे के साथ संघर्ष और अंतःक्रिया करते हुए आगे बढ़ी मानव सभ्यता की पूरी जययात्रा को ही नकार देते हैं। वे एक ऐसे तंत्र की स्थापना के हामी हैं जिसमें न सिर्फ धर्मनिरपेक्षता की जगह धार्मिकता या अधिक से अधिक उदार धर्मिकता ले लेगी बल्कि समग्रतया लोकतंत्र का नकार है। उन्हीं के शब्दों में ''.....यह प्रश्न पूछना चाहिए कि यातना की इतनी लंबी रात गुजारने के बाद क्या मनुष्य

उस व्यवस्था में कोई आलोक, कोई अर्थ पा सकता है,जिसे हम लोकतंत्र कहते हैं? क्या वह उसके जीवन की शून्यता भर सकता है, जहाँ न किसी ईश्वर की छत्रछाया है, न किसी धर्म का आश्वासन - एक धर्मनिरपेक्ष, यान्त्रिक, अर्थशून्य समाज, जहाँ मनुष्य स्वयं अपने आत्म से विलगित होकर अपने को इतना अकेला, अनाथ और असुरक्षित पाता हैं?''[11] कुल मिलाकर 'ईश्वर की छत्रछाया' और 'धर्म का आश्वासन' इन्हीं दो चीजों की खोज है। मानव सभ्यता ने सिर्फ योरप में ही नहीं योरप के बाहर भी इस 'छत्रछात्रा' और 'आश्वासन' से मुक्ति के लिए बड़ी लड़ाइयां लड़ीं और क़ुर्बानियां दीं। मनुष्य ने यह ख़ुदमुख़्तारी ख़ुद ही हासिल की जिसे निर्मलजी फिर से वापस धकेल देने की कामना करते हैं। यदि लोकतंत्र से मनुष्य कोई प्रकाश नहीं प्राप्त कर सकता तो वे कौन सी व्यवस्थाएं हैं जो मानव समाज के लिए काम्य हैं। मानव समाज उत्तरोत्तर विकास की जिस अवस्था में पहुंचा है क्या वहां से उसे पुनः सैकड़ों साल पहले की स्थितियों में धकेला जा सकता है? यह सच है कि मौजूदा समय में उदारवादी लोकतंत्र की विकृतियां और भी ज्यादा विस्फारित रूप में सामने आयी हैं। इस व्यवस्था में तीखे हो रहे अंतर्विरोधों और संघर्षों का समाधान किसी उच्चतर व्यवस्था में होगा जिसमें मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण का समापन हो जाएगा, न कि उन व्यवस्थाओं के द्वारा जो अतीत में कायम रही हैं।

निर्मलजी टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी को अपना वैचारिक आदर्श मानते हैं। इन दोनों के ही अवदानों को स्वीकार करने के बावजूद इनके विचारों की असंगतियों को समझना भी जरूरी है। टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी दोनों औद्योगिक सभ्यता के विरोधी थे लेकिन दोनों ने ही उद्योगों द्वारा कर दिए गए परिवर्तनों को व्यवहारतः स्वीकार भी किया। टॉल्स्टॉय ने जीवन पर्यंत रेलगाड़ी का विरोध किया लेकिन कितना त्रासद है यह? कि उनकी मृत्यु रेलवे स्टेशन पर ही हुई और गांधीजी तो रेल ही नहीं मशीन मात्र के खिलाफ थे, लेकिन जीवन भर उन्होंनें रेल और समुद्री यात्राएं की। निर्मलजी इसी विशिष्ट पहलू से अपने आदर्शों के थोड़ा करीब पहुंचते हैं। यूरोपीय सभ्यता, संस्कृतिबोध वगैरह का तमाम विरोध करने के बावजूद निर्मल वर्मा नें अपने जीवन का बड़ा हिस्सा यूरोप में ही बिताया। निर्मलजी से यह मांग नहीं है कि उन्हें यूरोप नहीं जाना चाहिए था। इस उदाहरण के माध्यम से सिर्फ़ उनकी ज्ञानमीमांसा को समझने का प्रयत्न किया गया है।

संदर्भ

(1) निर्मल वर्मा, शताब्दी के ढलते वर्षो में, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2006, पृ.161-62 (2) वही, पृ0 162 (3) वही, पृ0 162-63 (4) वही, पृ0 163 (5) वही, पृ0 166-67 (6) वही, पृ0 170-71 (7) कार्ल मार्क्स, लुई बोनापार्ट की 18वीं ब्रूमेयर, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1986, पृ012 (8) निर्मल वर्मा, शताब्दी के ढलते वर्षो में, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2006, पृ0 172-73 (9) वही, पृ0 173 (10) वही, पृ0 175 (11) वही पृ0 185-86

स्त्री–आत्मकथा : सिद्धान्त विचार

गरिमा श्रीवास्तव

आज चिन्तन के तौर पर स्त्री-विमर्श अपनी सम्पूर्ण रचनात्मकता के साथ युगपरिवर्तन की भूमिका में उपस्थित है। कला, साहित्य, मनोविज्ञान, संस्कृति-सभी क्षेत्रों में स्त्री-विमर्श के विविध आयामों को देखा जा सकता है। स्त्री द्वारा रचित पाठ, स्त्री भाषा ने, न सिर्फ़ पितृसत्तात्मक भाव और मूल्यबोध में सेंध लगाई है, बल्कि स्त्री की दृष्टि से देखे-सुने-गुने जीवन को पाठकों तक पहुँचाकर पाठकीय रुचि को भी परिष्कृत किया है। स्त्री आत्मकथ्यों ने इनमें विशेष योगदान दिया है, साथ ही आलोचना के स्तर पर मूल्यांकन की दृष्टि को भी बदला है। अकादमिक शोध केंद्रों और आलोचकों की लंबी उपेक्षा के बावजूद, इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में, रचना और आलोचना के स्तर पर स्त्रीवादी सिद्धान्त एक परिपक्व अनुशासन के तौर पर उपस्थित हैं। आलोचना-सरणी में स्त्री-आत्मकथ्यों को शामिल किया जाना पिछले पच्चीस-तीस वर्षों की ताज़ातरीन घटना है। स्त्रियों का अनुभव-संसार सीमित होता है, अपना रोना-गाना थोड़ा-बहुत लिखकर चुप हो जाएंगी— यह समझना आलोचकों के लिए सुविधाजनक था। पुरुष की शक्ति-केंद्रिकता के मूल में स्त्री की शक्ति-हीनता निहित है। डोम्ना स्टेन्टन ने आत्मकथा का संबंध शक्ति और ज्ञान से जोड़ा है।[1]

स्त्रियों को आत्माभिव्यक्ति से विमुख करने के पीछे कई ताकतें कार्य करती हैं। भाषिक और सांस्कृतिक सीमाएँ भी उनकी आत्माभिव्यक्ति को अनुशासित और नियंत्रित करती हैं। स्त्रियों की आत्मकथाएं, चाहे वे पश्चिम की व्यक्तिवादी अन्तःश्चेतना से उद्‌भूत हों या भारतीय कौटुंबिक, सामूहिक व्यवस्था की अन्तर्ध्वनि से—वे बहुआयामी हैं। इनमें सिद्धान्त पालन की कोई एक सामान्य प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती, बल्कि सिद्धान्त की जगह अनुभव और व्यवहार की प्रधानता दीखती हैं। वैसे भी, रचना के पाठ के अनन्तर व्यवहार और सिद्धान्त को परस्पर अलगाना संभव नहीं, दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। पश्चिमी आत्मकथ्य अपेक्षाकृत ज्यादा 'बोल्डनेस' के दावे के साथ पाठक का सामना करते हैं, क्योंकि वहां वैयक्तिकता और निजता का सम्मान है। भारतीय संदर्भ में, महानगरों तक में स्त्री

के स्वायत्त अस्तित्व के प्रति सम्मान का भाव नहीं। जो स्त्रियाँ उच्चपदस्थ हैं, सत्ता और राजनीति से संबद्ध हैं, या धनबल रखती हैं, उनके प्रति कभी सत्य और कभी छद्म सम्मान का भाव दिखाया जाता है। लेकिन वास्तविकता यही है कि स्वाधीनता के दावे करने वाली स्त्री की ऐसी-तैसी करने के मौके महानगरीय जीवन भी नहीं चूकता, कस्बों और गांवों की तो बात ही क्या! स्त्री अस्मिता और आत्माभिव्यक्ति से जुड़े सवाल पश्चिमी और भारतीय परिवेश में अलग-अलग होकर भी समान हैं। निरंतर पश्चिमी अंधानुकरण की प्रक्रिया, और भारतीय स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता ने अब एक सीमा तक ही 'अहं' के विसर्जन को स्वीकार किया है, पश्चिम में 'अहं' का सवाल सबसे महत्वपूर्ण है– वहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता सर्वाधिक महत्वपूर्ण है— चाहे वह स्त्री हो या पुरुष! सिद्धांत के तौर पर पश्चिमी स्त्री स्वतंत्र और अपेक्षाकृत स्वायत्त है। व्यक्तिगत निर्णय, जीवन चुनने की स्वतंत्रता-समाज और परिवार से बड़े हैं। जबकि भारतीय जीवन में, स्त्री रिश्तों में बंधी है— सिर्फ अपनी स्वायत्तता के बारे में यदि वह सोचे तो फिर परिवार और समाज से उसे कटना-टूटना पड़ता है। किंतु व्यावहारिक तौर पर अलग-अलग संदर्भों, परिवेशों, भाषिक भिन्नताओं में जी रही स्त्री का संसार, देश-काल की सीमाओं के परे एक-सा है, उसकी अंतश्चेतना का तार सुदूर बैठी, अदेखी, अचीन्ही, अपरिचिताओं से जुड़ा हुआ है। पश्चिम और भारत के शोध और क्षेत्रगत अकादमिक अध्ययन केंद्रों में स्त्री-रचना, स्त्री-पाठ और स्त्री भाषा पर अनेक दृष्टियों से अनुसंधान और आलचोना की प्रक्रिया चल रही है; स्त्रीवादी आलोचकों का मानना है कि स्त्री के कहे और लिखे की उपेक्षा एक सोची-समझी रणनीति का हिस्सा है। जो अब तक झेला गया, पर कहा नहीं गया, जो कहा गया पर सुना नहीं गया, स्त्री की आत्माभिव्यक्तियाँ उसी देखे हुए को दिखाने की पुरजोर कोशिश के रूप में हमारे सामने आई हैं। अब 'स्त्री' एक व्यक्ति के रूप में सामने उभरी है— एक व्यक्ति जो वर्ग, नस्ल/रंगभेद के अनुभव जीता है, उसका प्रभाव यौनिकता और सामाजिक संबंधों पर भी पड़ता है। सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना नस्ल और जाति कहीं न कहीं अभिव्यक्ति के लिए विधागत चुनाव को भी नियंत्रित करते हैं। 'आत्मकथा' एक ऐसी संश्लिष्ट विधा है, जिसमें अन्य कई विधाएँ अन्तर्भुक्त रहती हैं। इसमें डायरी, संस्मरण, रेखाचित्र, कथा-कहानी, पत्र आदि विधाओं की कई विशेषताएँ मिलती हैं। इसके बावज़ूद इसमें डायरी और पत्र-विधा की बौद्धिक बोझिलता की जगह रोचकता रहती है, जो किसी न किसी वर्ग के पाठकों के लिए पठनीय होती है। अक्सर पाठकों की रुचि कथा-साहित्य से ज्यादा आत्मकथाओं में देखी गई है, क्योंकि 'आत्मकथा' संज्ञा से सत्य या प्रामाणिक अनुभवों की अनुगूँज सुनाई देती है। लेकिन 'आत्मकथा' सत्य ही होगी, इसको प्रमाणित करना संभव नहीं। सत्य और सन्धान की विभाजक रेखा बहुत धुंधली होती है। स्वानुभूत जीवन को पन्नों पर उतार देना, कहीं कहीं अपने जीवन में परिवर्तनकामी शक्तियों के आगमन के स्वीकार से संबद्ध है। दूसरी ओर, ऐसा कोई मापदंड नहीं है जो यह तय करे कि आत्मकथा में निजी और गोपनीय बातों को कितना और किस सीमा तक अभिव्यक्त किया जाए। कहीं-कहीं आत्मकथाएँ निर्मिति लगती हैं और कहीं स्वतः स्फूर्त। दो आत्मकथाओं के गहन पाठ से ही यह अंतर स्पष्ट हो सकता है।

साहित्यालोचन और अकादमिक शोध केंद्रों ने अभी हाल के वर्षों में आत्मकथा विधा पर ध्यान

दिया है। इससे पहले जार्ज मिश, जार्जस् गस्डोर्फ़ और विलियम स्पेंस्मेन ने इस विधा पर गंभीर आलोचना की शुरुआत की। उनकी दृष्टि का केंद्र-बिंदु पुरुष-आत्मकथाएँ ही रहीं, विशेषकर महत् पुरुष चरित्र केंद्रित। संत आगस्टीन, रोऊसेऊ, फ्रैंकलिन, गोथे, कर्लाइल, और हेनरी एडम्स सरीखे चरित्रों के आत्मकथ्य ही विश्लेषण के योग्य समझे गए। बीसवीं शताब्दी के तीसरे उत्तरार्ध में हाशिए के विमर्शों के स्थानांतरित होने की प्रक्रिया शुरू हुई, जिसमें स्त्रीवादी विमर्शकारों ने साहित्य और समाज सैद्धान्तिकी के सन्दर्भ में परिवर्तनकारी भूमिका अदा की। स्त्री आत्मकथाओं के पाठ और सैद्धान्तिकी की माँग ने स्त्री स्वरों की पहचान, स्त्री यौनिकता और स्त्री-जीवन चक्र से आलोचकों को रू-ब-रू कराया। राजनीति, आर्थिक परिवर्तन और विश्वग्राम के साथ परिवर्तित होती सौंदर्यशास्त्रीय अभिरुचियों ने स्त्री-पाठ की ओर ध्यान आकर्षित किया। पश्चिमीजगत, एशिया तथा अफ्रीका में पाठकों की नब्ज़ पहचान कर प्रकाशकों ने आत्मकथ्य धड़ाधड़ छापे, इनमें ब्रिटिश, कैनेडियन, अमेरिकन, जर्मन, फ्रेंच और भारतीय प्रकाशक शामिल थे। उधर लैंगिक अध्ययन केंद्रों, क्षेत्रीय एवं तुलनात्मक अध्ययन केंद्रों में ऐसे 'टेक्स्ट' की मांग ज़ोर पकड़ती गई जो बदलते शैक्षिक आग्रहों/ आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और व्यक्ति और समाज के विविधमुखी अनुभवों को प्रामाणिकता में प्रस्तुत करे।

सबाल्टर्न अध्ययन हेतु स्त्री आत्मकथाओं की सैद्धांतिकी, और उन मानदंडों की खोज अनिवार्य है, जिनके आधार पर आलोचकों ने उन्हें देखा-परखा। साथ ही स्त्री आत्मकथा-आलोचना की परंपरा को खोजना और परस्पर असंबद्ध दीखने वाली कड़ियों को एक जगह रखा जाना शोध एवं अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकता है। आत्मकथा-विधा का इतिहास-लेखन, परंपरागत इतिहास-लेखन से भिन्न है, यहां तक कि समाज-इतिहास से भी, क्योंकि इस विधा की आधारभूमि का पारिविस्तार स्वयं लेखक या उसके परिवार/ संबंधियों तक ही होता है। वृहत्तर समाज के सामूहिक अनुभवों की सघन और जटिल अभिव्यक्ति के लिए यह विधा माकूल है। आत्मकथा इतिहास लेखन के क्षेत्र में पश्चिम में जो महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं, उनमें 'फ़ार फ्रॉम होम : फैमिलीज़ ऑफ़ द वेस्टवार्ड जर्नी' (लिलियन शिसेल) एन ओरिज़िन पायोनियर : फैमिली हिस्ट्री एंड लॉस (शैनॉन एपलिगेट्स स्कूकम) 'द वर्ल्ड रश्ड इन' (जे.एस. होलिडे) द कैलिफोर्निया गोल्ड रश एक्सपीरिएंस; 'वूमन डायरीज़ ऑफ़ द वेस्टवार्ड जर्नी' (शिसेल), 'रीड दिस ओनली टू योरसेल्फ (हेक्स्टन) को देखा जा सकता है, इसके अतिरिक्त कैपलान द्वारा प्रकाशित 'बिबलियोग्रॉफ़ी ऑफ़ अमेरिकन ऑटोबॉयोग्राफ़ीज' में औपनिवेशिक काल से सन् 1945 तक रचित लगभग 6,400 रचनाओं की सूची मिलती है, जिससे यह भी पता चलता है कि इस दौर में पुरुषों ने स्त्रियों से साढ़े पाँच गुना ज्यादा आत्मकथाएँ लिखीं। आगामी पैंतीस वर्षों में 1980 तक प्रकाशित 5000 कुल रचनाओं में स्त्री रचनाकारों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। स्त्री आत्मकथाओं में पाठकों और प्रकाशकों की बढ़ती रुचि को नेब्रास्का प्रेस की प्रकाशन सूची में देखा जा सकता है, जिसने अड़तालीस जिल्दों में अमेरिकी स्त्री लेखन-जिसमें पत्र, दैनंदिनी, आत्मकथाएँ शामिल हैं— प्रकाशित किया। इसमें ऐने एलिस की आत्मकथा 'लाइफ़ ऑफ़ एन आर्डिनेरी वूमेन' (प्रथम सं. 1929) से लेकर एलिनोर प्रूइट स्टेवॉर्ड का 'लेटर्स ऑन एल्क हंट' (प्रथम सं. 1915) शामिल हैं। इनमें से केवल तीन का प्रकाशन ही 1970 के पहले हुआ था, जबकि

चालीस का प्रकाशन 1980 के दशक में हुआ, अर्थात् 1200 प्रतिशत की आश्चर्यजनक वृद्धि। वस्तुतः सन् 1980 के आसपास ही पश्चिम में स्त्री आत्मकथाओं पर गंभीरता से विचार शुरू हुआ, इससे पहले एलिजोबेथ हेक्स्टन, जिसने अपनी दैनंदिनी प्रकाशित करने का जोखिम उठाया, का पाठक से इसरार था ''इसे केवल अपने तक सीमित रखो।'' पाठकों को डायरी में अभिव्यक्त स्त्री जीवन बहुत अविश्वसनीय लगा, क्योंकि जीवन-कथाएँ अक्सर सत्य का विस्तार इतना कर देती हैं कि सत्य 'सत्य' न रहकर 'काल्पनिक सत्य' में तब्दील हो जाता है। पाँचवे और छठे दशक में, पश्चिम में बहुत-सी स्त्रियों के संस्मरण 'बेस्ट सेलर' बने। इनमें से कुछ काफी चर्चित 'शरारती' स्त्रियों के संस्मरण थे, जबकि कुछ को अज्ञातनामा स्त्रियों ने लिखा था।

यूँ तो, अठारहवीं शताब्दी में ही इंग्लैंड और पश्चिम में स्त्री आत्मकथ्यों के प्रमाण दिखाई देने लगते हैं, लेकिन ये आत्मकथ्य डायरी, पत्र-व्यवहार और पारिवारिक जीवन के संस्मरणों के रूप में बिखरे हुए हैं। अठारहवीं सदी के इंग्लैंड में लेडी मेरी वर्ल्टले, मांटेग्यू, मेरी डीलेनी और एलिजाबेथ कार्टर के पत्र-व्यवहारों को देखना इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। स्त्री प्रश्न और लिंगभेद जैसे मुद्दों की अपेक्षा आत्मदमन' की आवश्यकता पर ये रचनाकार बल देती दिखाई देती हैं। ऐलिजाबेथ कार्टर और कैथरीन टॉलबोट का आपसी पत्रव्यवहार तत्कालीन स्त्री रचनाकारों में अंतर्निहित अभिव्यक्ति की इच्छा और सामाजिक-मर्यादा, मध्यवर्गीय नैतिकता के द्वंद्व और तनाव की दृष्टि से उल्लेखनीय है। दोनों स्त्रियां आत्मप्रस्तुति के स्त्री-कौशल का प्रयोग करती हैं—[2] कैथरीन पत्र में लिखी छोटी-छोटी बातों के लिए ऐलिज़ाबेथ से क्षमा चाहती हैं, अपने लिखे पर शर्मिंदा होती है। उधर ऐलिज़ाबेथ 'अहंवादिता' से बचने की पुरज़ोर कोशिश करती दिखाई देती हैं। कार्टर अपने अध्ययन की सीमाओं का उल्लेख बारंबार करती हैं: ''मैं अपने अहंयुक्त वक्तव्य के लिए क्षमा चाहती हूँ, क्योंकि मैंने तुम्हें अपने छोटे-छोटे कार्यों के बारे में बहुत विस्तार से बताया है, जिससे स्पष्ट है कि, मेरे पास विषयों का कितना अभाव है।'' (1 जनवरी 1743, पेनिंग्टन 1;24, 25) कैथरीन टालबोट की आत्मस्वीकृति है : ''अतिशय बोलने की आदत और अहंवादिता मेरी दो कमज़ोरियाँ हैं'' (23 दिसंबर 1751, 2:67) आत्माभिव्यक्ति की इच्छा और स्त्री–सुलभ संकोच का भाव इस पत्रव्यवहार में प्रत्यक्ष है, जबकि डिलेनी ने इसी संकोच पर टिप्पणी करते हुए 1728 में लिखा था— ''मेरे विचार से रचना का सौंदर्य इसी में है कि हम अपनी भावनाओं को सहज नैसर्गिक रूप में व्यक्त कर सकें'' (14 मार्च 1728,29, 1:196) आगे चलकर सीमोन द बोउवार के आत्मकथ्यों— 'मेमोआयर्स ऑफ ए ड्यूटीफुल डॉटर' और 'द प्राइम ऑफ लाइफ़' के अनुवाद से स्त्री के 'आत्म' को समझने में मदद मिली। अनाइस निन (Anai's Nin) की डायरियों में आत्माभिव्यक्ति के विविध संदर्भ और विधागत प्रयोग देखे गए, और जॉन ग्रीनबर्ग की डायरियों को एक बड़े पाठक-वर्ग ने पसंद किया। 'द डायरी ऑफ़ एन फ्रैंक' और 'आई नेवर प्रॉमिस्ड यू अ रोज़ गार्डन' बहुत चर्चित हुईं, इसके अतिरिक्त मेरी मैकेर्थी का 'मेमोआॅयर्स ऑफ़ अ कैथोलिक गर्लहुड', लिलियन हेलमेन के तीन आत्मकथ्यों 'एन अनफ़िनिश्ड वूमन', 'पेंटीमेंटो' और 'स्काउंड्रल टाइम' को 'बेस्ट सेलर' माना गया। इन आत्मकथ्यों पर फ़िल्में भी बनीं। मेरी मैकेर्थी-हेलमन फ़ॉड का प्रसिद्ध 'टॉक शो' जनवरी 1980 में टेलिविजन पर प्रसारित हुआ, जिसमें मैकेर्थी ने हेलमन की

आत्मकथा के एक-एक शब्द को असत्य कहा। आम जनता को यह 'शो' बहुत पसंद आया, क्योंकि मैकेर्थी ने डिककैवेट के साथ बातचीत में हेलमन द्वारा लिखित असत्य का प्रमाण सहित पर्दाफ़ाश कर दिया।[3] अमेरिका में नागरिक अधिकार और आगे चलकर अश्वेत अधिकार आंदोलनों के अनन्तर नस्लभेद और यौन प्रताड़ना की दुर्दम अभिव्यक्तियाँ आत्मकथ्यों का विषय बनीं। अफ्रो-अमेरिकन आत्मकथ्यों की एक नई खेप, अनगढ़ अभिव्यक्ति के सौंदर्य, कटु यथार्थ और शोषण के विरुद्ध एक तीक्ष्ण औज़ार के रूप में सामने आई जिसने अब तक प्रचलित साहित्य-सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों को हिलाकर रख दिया। इनमें एन मूडी का आत्मकथ्य 'कमिंग ऑफ़ एज इन मिसिसिपी', माया अंजलोऊ का 'आई नो व्हाई द केज बर्ड सिंग्स' महत्वपूर्ण थे।

सातवें दशक में जर्मेन ग्रीयर की 'द फीमेल यूनख' (बधिया स्त्री) शुलामिथ फ़ायरस्टोन की 'द डायलेक्टिक ऑफ़ सेक्स'— स्त्री के मनोजैविक अध्ययन की दृष्टि से प्रशंसित और चर्चित पुस्तकें रहीं, जिनमें 'पर्सनल इज़ पालिटिकल' का नारा दिया गया। 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' और आत्मकथाओं 'फ्लाइंग', 'सीता' में केटमिलेट ने अनुभव को सिद्धांत की नींव कहा,[4] एंजेला डेविस ने 'एन ऑटोबायोग्राफी' में निजी संस्मरणों का प्रयोग, नस्लवाद की राजनीति का यथार्थ उद्घाटित करने के लिए किया। रंगभेद की आड़ में स्त्री को कैसे उपेक्षित किया जाता है— यह जानने के लिए एंजेला डेविस की आत्मकथा उल्लेखनीय मानी गयी।

स्त्री साहित्य के प्रारंभिक आलोचक, जिन्होंने स्त्री-साहित्य की परंपरा को सामने रखा उनमें 'थिंकिग अबाउट वूमन' (मेरी एलयान) 'लिटरेरी वूमन' (एलेन मोयर्स, 'ए लिटरेचर ऑफ़ देयर ओन' (एलेन शोवाल्टर) प्रमुख हैं, जो पितृसत्ता और स्त्री साहित्य की उपेक्षा का संबंध उजागर करती हैं। पुरुष आलोचकों का पक्षपात, स्त्री स्वरों की व्यापक उपस्थिति की जानी-अनजानी उपेक्षा की ओर इंगित करते हुए, इनका कहना था कि साहित्येतिहास और आलोचना के ध्यान में यह बात आई ही नहीं, कि प्रारंभिक काल से ही स्त्रियाँ अपनी रचनाओं के साथ अनिवार्यतः उपस्थित रही हैं— चाहे वे लिखित हों या मौखिक; हाशिये के ये स्त्री-स्वर संस्मरण, डायरी, पत्र, कथा आदि अभिव्यक्ति की विविध विधाएँ अपनाते रहे हैं। मोयर्स ने तो स्त्री रचनाकारों की पचास पन्ने की वृहदाकार सूची प्रस्तुत की।[5] जिसने आगे के शोधकर्त्ताओं के लिए पथ-प्रदर्शक की भूमिका निभाई। मेरी बेथ नार्टन, राया रैप, ऐन डगलस, नैंसीकॉट और कॅरोल स्मिथ रासेनबर्ग के अलावा जार्ज मिशेच ने 'हिस्ट्री ऑफ ऑटोबायोग्रॉफ़ी' में आत्मकथाओं पुरुष, श्वेत और पश्चिमी एकाधिकार से जोड़कर देखा।

बीसवीं शताब्दी के तृतीय उत्तरार्ध में स्त्रियों ने अपनी रचनाओं में जीवन की नियंत्रणकारी शक्तियों की पहचान को अभिव्यक्त किया। 1923 से 1932 के बीच रचनारत कवयित्रियाँ-बीसवीं शती के उत्तरार्ध तक आत्मकथाकार में तब्दील हो गयीं। अब तक अभिव्यक्त न हो पायी संवेदनाओं को आत्मकथा की विधा में वाणी मिली, जिसकी छूट उन्हें पहले न थी। इसी दौर में स्त्रियों ने आत्मकथा के अतिरिक्त डायरी, कहानी, लघु कथा जैसी विधाओं का सहारा भी लिया।''[6] सन् 1986 में 'द ट्रेडीशन ऑफ़ वूमेन्स ऑटोबॉयोग्राफ़ी' में ऐश्ले सी. जेलिनेक ने स्त्री आत्मकथाओं की दो हज़ार वर्ष पुरानी परंपरा का संकेत किया, लेकिन यह पुस्तक यूरो-अमेरिकन परंपरा के उल्लेख तक ही सीमित

रही। 'वूमेन पर्सनल नैरेटिव्ज़' (1985) में हाफ़मैन और कैली ने स्त्री आत्मकथ्यों, डायरी, पत्रों और मौखिक साहित्य को शामिल कर स्त्री सहित्य अध्ययन के परिदृश्य को विस्तार दिया। 'इंटरपरेटिंग वूमेन्स लाइफ्ज़ : फेमिनिस्ट थियरी एंड पर्सनल नैरेटिव्ज़' (पर्सनल नैरेटिव ग्रुप 1989) के अंतर्गत समाज-विज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र, साहित्य इत्यादि पर कार्यरत दस प्रमुख आलोचकों के शोधपत्रों को प्रकाशित किया गया, जिससे स्त्री आत्मकथ्यों पर अंतरानुशासनिक और बहुआयामी दृष्टि से विचार संभव हो पाया। इन लेखों को अलग-अलग पृष्ठभूमि और भिन्न अनुशासनों से संबद्ध विद्वानों ने लिखा था, जिनसे पता चला कि अविकसित, विकासशील और विकसित देशों में रोज़मर्रा का स्त्री जीवनानुभव, स्त्रियों के विचार और संवेदनाएँ जैसे कि गर्भधारण जैसे मुद्दों— के प्रति उनका नज़रिया अलग-अलग था। स्त्रियों की अनौपचारिक अभिव्यक्तियों को भी इसमें शामिल किया गया। लैंगिक अस्मिता और पहचान को बताने वाली ये अभिव्यक्तियाँ विकसित और अविकसित देशों ''मानवीय जीवन और व्यवहार में लैंगिक विभेद का जायज़ा लेती हैं, इनसे स्त्री के आसपास के समाज , परिवार के संबंध में, स्त्री-संबंधी विचारों और अवधारणाओं पर पुनर्विचार की प्रक्रिया का सूत्रपात भी होता है।''[7] आठवें दशक में ही दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें स्त्री आत्मकथा की परंपरा, इतिहास और सैद्धांतिकी पर विस्तृत विश्लेषण किया गया-सिडोनी स्मिथ कृत 'ए पोएटिक्स ऑफ़ वूमेन्स ऑटोबायोग्राफ़ी' (1987) और फ्रैंकोइस लायनेट की 'ऑटोबायोग्रॉफ़िकल वॉयसेज़ : रेस, जेंडर, सेल्फ पोट्रेट' (1989) इसके अतिरिक्त रीता फेल्सकी ने 'बियोंड फ़ेमिनिस्ट एस्थेटिक्स' (1989) में यूरोपीय संदर्भ में स्त्रियों के आत्मकथ्य को विश्लेषित किया। सामाजिक संदर्भ में लिंगाधृत अस्मिता और विभिन्न वर्गों में प्रचलित व्यवहारों, मसलन राजनीतिक दावों और व्यावहारिक सच्चाई के अंतराल को पहचानने का जो प्रयास जर्मन पुस्तक 'डिस्क्लोज़रर्स : वूमेन ऑटोबायोग्राफ़ी इन जर्मनी बिटविन 1790 एंड 1914 (1986) में दिखाई देता है, फेल्स्की की पुस्तक उसीका परिविस्तार है। कैनेडियन साहित्य में भी हाल के वर्षों में स्त्रियों के आत्मकथा लेखन में विशेष प्रगति दिखाई दी, कई निबंध एवं शोध पत्र लिखे गए। मर्लिन कडर का 'ऐस्सेज़ ऑन लाइफ़ राइटिंग्स' (1992) हेलेन बस का 'मैपिंग आवर शेल्वज़ः कैनेडियन वूमेन-ऑटोबायोग्राफ़ी इन इंग्लिश ' (1993) इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

1988 में बेला ब्राडज़्के, सेलेस्टे सिज़नेक द्वारा संपादित निबंध संकलन 'थियोराइज़िंग वूमेंस ऑटोबायोग्राफ़ी' प्रकाश में आए, जिसमें स्त्री आत्मकथ्यों के उत्तर औपनिवेशिक रूपों को भी शामिल किया गया। 1988 में ही 'द प्राइवेट सेल्फ़' (मेरी बेनस्टॉक) का प्रकाशन हुआ जिसमें सूसन स्टेनफ़ोर्ड फ्राइडमैन का 'वूमेन ऑटोबायोग्राफ़िकल शेल्वज़-थियरी एंड प्रैक्टिसेज़' शीर्षक प्रसिद्ध लेख शामिल था जिसमें पहली बार स्त्रियों की आत्मकथाओं की सर्वाधिक विशिष्ट प्रवृत्ति 'संबंधत्व' की खोज पर बल दिया गया था। इसी वर्ष कैरलॉन हेलिब्रंस की 'राइटिंग अ वूमन्स लाइफ़' छपी, जिसमें स्त्री आत्मकथ्यों के व्यावहारिक पक्ष का विश्लेषण किया गया। यह वस्तुतः समाज वैज्ञानिक शोध था— जिसमें स्त्रियों के मौखिक अनुभवों के आधार पर आंकड़े इकट्ठे किए गए। बीसवीं शताब्दी के अंतिम तिहाई भाग में किए गए इस शोध के अनन्तर कैरलॉन का निष्कर्ष था कि सत्ता और राजनीतिक भागीदारी में अधिकार मिलने के कारण स्त्रियाँ आत्माभिव्यक्ति या खुलकर बोलने का साहस जुटा पाई हैं, साथ

ही यह भी कि साहित्यिक शोध और विश्लेषण 'ग्रासरूट' स्तर पर स्त्रियों की स्थिति में कोई सुधार नहीं कर पाता, विशेषकर जिनकी स्थिति में सुधार की वाकई आवश्यकता है। प्रकारांतर से, कैरलॉन रचनाकारों को 'एक्टिविस्ट' होने की सलाह देती हैं।[4] शर्लीन्यूमैन ने 'एस्सेज़ ऑन कैनेडियन राइटिंग्स' (1997) और जूलिया वी. एम्बर्ले की 'थ्रेशहोल्ड ऑफ़ डिफ़रेंस' (1993) में मौखिक और लिखित आत्मकथ्यों की परंपरा उल्लिखित हैं। तत्त्वतः कैनेडियन साहित्य को शामिल करने से अमेरिकी स्त्री आत्मकथा साहित्य सामग्रता में देखा जा सकता है।

वस्तुतः पिछले कुछ वर्षों में स्त्री आत्मकथा के सिद्धान्तकारों ने अपनी एक विशिष्ट पहचान बना ली है। स्त्री के आत्मकथ्य का सम्यक विश्लेषण, उसका व्यावहारिक जीवन, उसके मन के कोने-अंतरे, दरारें, चोट और पीड़ाएँ, नस्ल और रंगभेद, यौन अस्मिता, शोषण के विविधआयामी पक्ष, उसकी मनोसामाजिकी, लैंगिक भेद और स्त्री अस्मिता के साथ, स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए अपनाई गई भाषा-भंगिमाएँ, विविध मुद्राएँ, प्रतिरोध के औज़ार, समर्पण और विवशता के कारणों के साथ सैद्धांतिकी बनाने के रास्ते में आने वाली बाधाएँ और समस्याएँ उनके अंतर्विरोध— ये सब स्त्री सैद्धांतिकी में स्थान पाने योग्य हैं। इस सैद्धांतिकी के निर्माण का आधार सामाजिक व्यवहार है। सैद्धांतिकी और व्यवहार अन्तःसंबद्ध हैं— दोनों एक दूसरे से अलग नहीं, न ही एक दूसरे के विरोधी। व्यवहार सैद्धांतिकी को ही आधाररूप में ग्रहण करता है, लेकिन वह हमेशा सैद्धांतिकी को अंतिम सत्य मानकर चले, उसी का मुँह जोहे, यह अनिवार्य नहीं है। व्यवहार और सैद्धांतिकी में नैसर्गिक अंतर बताने या उन्हें परस्पर अलगाने का प्रयास व्यर्थ होता है। यद्यपि दोनों को पारिभाषिकी के स्तर पर विलगाया जा सकता है, फिर भी विधा के संदर्भ में प्रायः परिभाषाएँ भी लचीली होती हैं, ऐसा देखा गया है। विमर्श के विषय के सापेक्ष, परिभाषा भी बदलती है। आत्मकथा और जीवनी लेखन में, व्यवहार और सिद्धान्त को एक-दूसरे के संदर्भ में ही पारिभाषित किया जा सकता है। व्यवहार और सैद्धांतिकी का अंतर महाकाव्य और आधुनिक उपन्यास अथवा धारावाहिक कथा साहित्य और पत्र-लेखन के बरअक्स रखकर ज्यादा बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। पिछले पन्नों में जिन पुस्तकों और शोध पत्रों की चर्चा की गई है, उनमें आलोचकों ने अपने-अपने ढंग से स्त्री आत्मकथाओं की सैद्धांतिकी पर विचार किया, जिसे कुछ प्रश्नों के उत्तर के रूप में समझा जाना जरूरी है—

(क) आत्मकथाओं— विशेषकर स्त्री आत्मकथाओं का पाठक वर्ग कौन-सा है।

(ख) क्या आत्मकथाकार स्वयं को किसी विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधि मान रहा/ रही है।

(ग) रचनाकार ने किस सीमा तक कल्पना और नाटकीयता का सहारा लिया है।

(घ) 'टेक्स्ट' में रचनाकार की जीवन यात्रा की अभिव्यक्ति की प्रकृति क्या है— उसका लेखन और अस्मिता से क्या संबंध है।

(ङ) आत्मकथा में 'मैं' या 'तुम' को महत्व कितना और किस सीमा तक दिया गया है।

(च) अतीत की 'मैं' और वर्तमान की 'मैं'—जो आत्मकथा में व्यक्त है— उन दोनो का अन्तःसंबंध क्या है?

(छ) आत्मकथ्य में क्या कुछ प्रयोग किए गए हैं? यदि 'हाँ' तो इन प्रयोगों की प्रकृति क्या है?

(ज) रचना में संस्कृति, दर्शन और आत्म के सामाजिक संदर्भ की अभिव्यक्ति की प्रकृति क्या है?

(झ) आत्मकथा लेखन किसके लिए किया गया है— स्वान्तः सुखाय या पाठक के लिए।

(ञ) जीवनकथा के लेखक के अतिरिक्त रचनाकार क्या अपने वर्गीय चरित्र से अलग कोई विशिष्टता रखता है?

(ट) स्त्री और पुरुष के आत्मकथा लेखन में बुनियादी अंतर क्या है?

(ठ) आत्मकथा की विधा के अंतर्गत अन्य साहित्यिक विधाएं-उपन्यास, कहानी, डायरी किस तरह अंतः संचारित होती हैं?

इधर की स्त्री आत्मकथाओं में पाठक वर्ग की बढ़ती रुचि का संबंध विभिन्न शोध एवं अध्ययन केंद्रों में लैंगिक अध्ययन तथा नए अध्ययन क्षेत्रों की संभावनाओं से है जहाँ ऐसे 'टेक्स्ट' की आवश्यकता पड़ती है, जहाँ अनुभव की प्रामाणिकता के साथ विषय वैविध्य हो। अश्वेत स्त्री आत्मकथ्य, बंदी आत्मकथ्य, श्रमिक स्त्री, घरेलू नौकरानी और मध्यवर्गीय तथा आभिजात्य स्त्री-आत्मकथ्य पाठकों को पर्याप्त रुचि वैविध्य देते हैं। नए विषय और अछूती संवेदनाएँ, वैविध्य की अनंत संभावनाओं का पता देते हैं, जिन्हें प्रकाशित करना पूरी दुनिया के प्रकाशकों के लिए मुनाफे का सौदा है। मादाम स्ताल ने अठारहवीं शताब्दी में उपन्यास का संबंध स्त्री स्वभाव से जोड़कर देखा था।[9] स्त्री आत्मकथाओं ने बड़े पैमाने पर पाठक/ पाठिकाओं का एक बड़ा वर्ग तैयार किया है । जिन रचनाओं में संप्रेषणीयता का जितना ज्यादा ध्यान रखा गया— उन्हें उतनी बड़ी संख्या में पाठक विशेषकर स्त्री पाठकों की उपलब्धि हुई। आलोचक बारबरा क्रिस्टिटान का मानना है कि ''उसने 1967 में 'ब्राउन गर्ल' पढ़ा तो लगा कि उसमें स्वयं उसी की कथा कही गई है..... जिससे वह अपने जीवन को ज्यादा गहराई और सही ढंग से समझ पाई।''[10] एक स्त्री की संवेदना का तत्त्वांतरण दूसरी स्त्री में सहज-स्वाभाविक रूप में हो जाता है। यहाँ स्त्री के 'अनुभव' पर विचार किया जाना जरूरी है, क्योंकि स्त्री के संदर्भ में अनुभव का अर्थ ज्यादा विस्तृत है, या यों कह लें कि अलग है। रेमंड विलियम्स ने अनुभव को पारिभाषित और व्याख्यायित करते हुए कहा (क) ऐसा ज्ञान जो अतीत की घटनाओं से ग्रहण किया गया हो— यह ग्रहण चेतन और अवचेतन दोनों स्तरों पर हो सकता है (ख) यह विशिष्ट प्रकार की चेतना है, जिसे तर्क या ज्ञान से स्पष्ट तौर पर अलगाया जा सकता है। विलियम्स का मानना है कि अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अनुभव और प्रयोग को परस्पर संयुक्त पदों के रूप में पहचाना गया क्योंकि प्रयोग और परीक्षण द्वारा ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। स्त्री वक्तव्यों के संदर्भ में यह माना जाता है कि सामाजिक अभ्यास अपनी पूरी तात्कालिकता और संपूर्णता के साथ एक उत्तेजक अनुभव में रूपांतरित हो जाते हैं, और स्त्री का अनुभव सिर्फ एक व्यक्ति का अनुभव नहीं रह जाता, वह सामाजिक संस्था के अनुभव में रूपांतरित होकर सार्वभौमिक हो जाता है। कही और अनकही स्त्री अनुभव कथाएँ इसी प्रक्रिया में निजी से राजनीतिक हो जाती हैं, इसलिए स्त्री की अभिव्यक्ति को

राजनीति से संबद्ध करके भी देखा जाता है। स्त्रीवादी विमर्शकार अनुभव की अभिव्यक्ति पर बराबर बल देते हैं। गायत्री चक्रवर्ती स्पीवॉक का कहना है ''Make visible the assignment of sabject-Positions''[11]वस्तुतः स्त्री के जीवन और अनुभव के विषय में लिखने के चार ढंग हैं : ''पहला तो यह कि स्त्री स्वयं अपने बारे में कहे— इसके लिए वह 'फ़िक्शन' या चाहे तो आत्मकथा का सहारा ले सकती है। दूसरा ढंग यह है कि पुरुष या स्त्री दूसरी स्त्री के जीवन और अनुभवों के बारे में लिखे। तीसरा तरीका यह है कि अब तक जिए जा चुके जीवन से प्राप्त अनुभव और आने वाले जीवन के बारे में पूर्वानुमान करके स्त्री लिखे। विदुषी और प्रतिभाशाली स्त्रियाँ अनजाने में ही अपनी भविष्य कथाएँ लिख जाती हैं। चौथा ढंग, जिसे हाल के वर्षों में स्त्रियों ने अपनाया है, वह यह कि स्त्रियाँ अपने अतीत के बारे में ज्यादा 'बोल्ड' और ईमानदार तरीके से लिखकर, सत्ता और राजनीति की नियंत्रणकारी ताकतों से टकरा रही हैं, चूंकि शक्ति और सत्ता को हमेशा से स्त्रियों के लिए वर्जित माना गया या यों कहें कि इतिहास में कभी भी, स्त्रियों को समाज की नियंत्रक शक्ति के रूप में नहीं पहचाना गया। पितृसत्तात्मक शक्तियों ने स्त्री को हमेशा यही समझाया कि यह उसके लिए 'वर्जित क्षेत्र' है। साथ ही यह भी, कि वे स्वयं समाज-नियंत्रक नहीं बनना चाहतीं उन्हें हमेशा अभिव्यक्ति से रोका गया; टेक्स्ट', कथानक, उदाहरण का अंग बनाने से बचा गया क्योंकि भय था कि इसके द्वारा कहीं वे सत्ता अधिग्रहण न कर लें, या अपने जीवन के निर्णय स्वयं न लेने लगें।''[12] समकालीन स्त्री विमर्शकारों ने आलोचकों द्वारा स्त्रीवाद की उपेक्षा के प्रश्न को रेखांकित किया। उन्होंने बताया कि स्त्रियों के अनुभवों की अभिव्यक्ति ज्यादा बेहतर और पारदर्शी होती है। स्त्री वक्तव्यों के संदर्भ में क्रिस्टियन स्टॉनसेल ने माना कि सामाजिक अभ्यास अपनी पूरी तात्कालिकता और संपूर्णता के साथ एक उत्तेजक अनुभव में रूपांतरित हो जाते हैं। स्त्री का अनुभव सिर्फ एक व्यक्ति का अनुभव नहीं रह जाता, वह सामाजिक संस्था के अनुभव में रूपांतरित होकर सार्वभौमिक हो जाता है।

स्त्री का बोलना अपने-आप में प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण करता है । डेनिस रिले का मानना है कि यद्यपि स्त्री अधिकारों की लड़ाई उसे राजनीति की ओर ले जाती है, लेकिन 'स्त्रीवाद' कभी भी अनुभवों की अपरिहार्यता समाप्त नहीं कर सकता। समाज में, जो हमें दिखाई देता है, वही सच नहीं होता। मसलन हम विभिन्न सामाजिक अस्मिताओं के संदर्भ में स्त्री अस्मिता को देखें। स्त्री अभिव्यक्ति 'अस्मिता' को पाने की ही कोशिश है, यह अस्मिता विभिन्न अस्मिताओं के पारस्परिक संघनन की प्रक्रिया से गुज़रती है, उनकी जटिल संरचना के भीतर से अन्य अस्मिताओं को पीछे कर अपनी संपूर्ण ताकत के साथ उभरती है, किसी-किसी समाज और दौर में दबा भी दी जाती है, कहीं-कहीं उपेक्षा और प्रतिरोध झेलती है। इसी प्रक्रिया में कोई अस्मिता अपना विशिष्ट स्वरूप ग्रहण करती है। इस अस्मिता की पहचान सिर्फ इससे नहीं होती कि वह कितनी और कैसे, अभिव्यक्ति के लिए आकुल रहती है, या कि वह किस विशिष्ट ऐतिहासिक या राजनैतिक आंदोलन से जन्मी है। अस्मिता की पहचान की प्रक्रिया पर स्टुअर्ट हाल ने अश्वेतों के संदर्भ में लिखा था, 'अश्वेत एक शारीरिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक अस्मिता है, जो सुनिश्चित नहीं है, यह कथा है, आत्माभिव्यक्ति है, इतिहास है— वह जो विनिर्मित है, जिसे बोला और सुना गया, अब तक इस समुदाय के लोग मौन थे, अतः उनकी पहचान

भी मूक थी। मैं जमैका समाज का सदस्य हूँ, जिसमें सदस्य के तौर पर अश्वेत रहते हैं। वास्तविकता यह है कि इस समाज में अश्वेत और भूरे लोग पिछले तीन-चार सौ वर्षों से रह रहे हैं, बिना यह जाने कि शेष दुनिया उन्हें 'अश्वेत' के रूप में संबोधित करती और पहचानती है। जमैका में 'अश्वेत' अस्मिता की पहचान का क्षण 1970 में आया, तब हमने जाना कि 'अश्वेत' अस्मिता एक पहचान है,जिसे सीखा और अर्जित किया जाता है।

स्त्री आत्मकथाएँ स्त्री अस्मिता को दृढ़ करने के औज़ार के रूप में कार्य करती दिखाई देती हैं। अलग-अलग नस्लों, वर्गों, राष्ट्रों, धर्मों और परस्पर भिन्न रुचियों, व्यवसाय और पृष्ठभूमि वाली स्त्रियाँ आत्मकथा लेखन में सन्नद्ध हैं। इतिहास के विभिन्न कालखंडों में उनकी पुरज़ोर उपस्थिति मिलती है— निजी और सरकारी क्षेत्रों में कार्यरत, घरेलू, श्वेत, अश्वेत और सामाजिक मर्यादा एवं सांस्कृतिक परम्परा के बोझ तले दबी, वे स्त्रियाँ भी जो संघर्ष, और आपसी द्वैत की भूमिका में जी रही हैं। वे भी जो मां, पत्नी, बहन, प्रेमिका, पुत्री हैं— और वे भी जो 'पुरुषों के संसार' और 'स्त्रियों का क्षेत्र' जैसी कठोर सामाजिक सीमाओं में जीने के लिए विवश हैं। लेकिन अधिकतर 'आत्मकथाकार स्त्रियों' को रचनाकार की श्रेणी में रखने से परहेज किया जाता है, और यदि उन्हें रखा भी जाता है तो उनके 'स्त्रीत्व' को दर किनार कर दिया जाता है। इसे 'लिंगभेद की राजनीति' के रूप में समझा जा सकता है। आत्मकथा के प्रारंभिक सिद्धांतकारों ने स्त्रियों की आत्मकथाओं को 'नोटिस' में ही नहीं लिया। जार्ज्स गस्डोर्फ ने लिखा कि किसी ऐसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में जहां चेतन और आत्म अपने बारे में ठीक तरह से बात नहीं करते वहां पर आत्मकथा लेखन संभव नहीं।'[13] आत्मकथा लेखन के लिए विशिष्ट सांस्कृतिक अवस्था की मांग करने वाले गस्डोर्फ का यह भी मानना था कि सभ्यता की अधुनातन अवस्था जो व्यक्ति की निजी अस्मिता की अवधारणा में विश्वास रखती हो— में ही आत्मकथ्यों की रचना संभव है। यहाँ यह विचारणीय है कि आत्म, आत्म की रचना, आत्मचेतना की अवधारणा स्त्रियों और पुरुषों में परस्पर भिन्न है। आत्म की अवधारणा दलितों, अश्वेतों और अल्पसंख्यकों के संदर्भ में भी परस्पर अलग है। इसके अतिरिक्त किसी एक ही समाज में, स्त्री और पुरुषों की मनोसामाजिक संरचनात्मक संदर्भ और धरातल भिन्न होते हैं। पुरुष और स्त्री का अलगाव सामाजिक विकास के संदर्भ में भी लक्षित होता है, इसके अतिरिक्त स्त्रियों के भी अनेक वर्ग होते हैं— उनमें भी परस्पर भिन्नता होती है। गस्डोर्फ की अवधारणा 'सामूहिक अस्मिता' के लिए कोई अवकाश नहीं देती। कहीं-कहीं बल्कि यों कहें कि हाशिए की अस्मिताएँ (दलित, स्त्री, अल्पसंख्यक, अश्वेत आदि) परस्पर संबद्ध होकर 'सामूहिक अस्मिता का निर्माण करती हैं। पश्चिम में शीला रॉबाथम[14] और नैंसी चोदोरोव[15] ने इतिहास के हवाले से यह बताया कि कैसे लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया में स्त्री और पुरुष के 'आत्म' और 'निजत्व' में अन्तराल लक्षित किया जा सकता है। गस्डोर्फ़ की सैद्धांतिकी व्यक्तिवाद की अवधारणा के ज्यादा अनुकूल पड़ती है।

स्त्री के सामाजिक विकास में मनोगत संरचनाएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। लाकां और उससे भी पहले फ्रॉयड ने अहं के विकास का विस्तृत विश्लेषण किया। मनुष्य का मनोवैज्ञानिक विकास पहचान से अलगाव की यात्रा करता है। जैम्स लाकां[16] का मानना है, कि शिशु अपनी मां से विलगाव के पहले आत्ममुग्धता के दौर से गुजरता है। जब वह आईने में अपनी ही छवि देखता है, तब उसे

अपने नितांत पृथक् अस्तित्व का अहसास होता है, वह अपनी निजी भाषा का निर्माण भी इसी दौर में करता है। लाकां का कहना है कि अपनी छवि की तरह यह भाषा भी 'मिथ्या' होती है। लकिन शिशु के अहं के निर्माण की प्रक्रिया का यह पुख्ता दौर होता है। लाकां समेत अनेक मनोविश्लेषक आलोचकों जैसे ब्रूस मैज़िश[17], जैफ़री मेहल्मेन ने आत्मकथ्यों में आत्मुग्धता और अहं के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को देखा। इनका मानना है कि आत्मकथा एक सृजन उत्पाद है जिसमें 'आत्म' के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को देखा जा सकता है, जो सतत् परिवर्तनशील होती हैं। 'अहं' के कारण ही आत्मकथाकार अपने वास्तविक 'आत्म' को पहचान नहीं पाता, या यों कहें कि उसकी उपलब्धि नहीं कर पाता। अतः सभी आत्मकथाओं में अनिवार्य रूप से कल्पना का समावेश होता है। आगे चलकर विलीस बॅक, जेराल्ड कैनेडी, ग्रियोग्री उमर ने भी लाकां से सैद्धांतिक सहमति व्यक्त की, कि आत्मकथाकार कल्पना के सहारे एक मिथ्या पहचान का निर्माम करता है, जो उसे सामान्य जनों से अलगा कर विशिष्टता का अहसास देती है। आत्मकथा सैद्धांतिकी के इस मनोविश्लेषणात्मक पक्ष के प्रकाश में आने से आलोचकों को मदद मिली, लेकिन व्यक्ति केंद्रित अवधारणा के आधार पर टिकी इस सैद्धांतिकी ने साहित्यिक परंपरा में स्त्री आत्मकथ्यों की उपस्थिति और पहचान में बाधा उपस्थित की।

स्त्रियाँ हमेशा से विजित, उपनिवेशित और शासित रहीं, कहीं-कहीं, अपवादस्वरूप वे विधि-विधानों की आविष्कर्ता भी रहीं, लेकिन हमेशा उन्हें नस्ल, धर्म वर्ग और लैंगिक पूर्वाग्रहों के कारण हाशिए पर धकेला जाता रहा। शीला रॉबाथम का कहना समीचीन है कि 'स्त्रियों ने आत्मकथा लिखकर उनकी पहचान नष्ट करने वाली साजिशों का सांस्कृतिक/ रचनात्मक प्रत्युत्तर दिया'।[18] इसलिए स्त्री अस्मिता को जब तक सामान्यीकृत खाँचे में बांधकर देखा जाएगा, वे अतिरंजित, काल्पनिक और अतिशयोक्तिपूर्ण फलतः उपेक्षणीय दिखाई देंगी। ऐसा करना स्त्रीपाठ के साथ अन्याय होगा। स्त्रियों का 'आत्म' पुरुषों के आत्म से नितांत भिन्न है। स्त्री रचनाकार के रूप में अपने आसपास की घटनाओं, सामाजिक व्यवहारों को अपने आत्म से जोड़ती है। उदाहरण के लिए यदि हम अश्वेत स्त्रियों के आत्मकथ्यों को देखें। इनमें अश्वेत स्त्रियाँ सामाजिक भेदभाव और यौन अस्मिता के प्रश्नों को निजी जीवन कथ्यों से जोड़ती हैं, इनमें 'निज' एक व्यक्ति के तौर पर नहीं आता बल्कि ''बतौर सैनिक आता है जो सामूहिक कवायद का अनिवार्य अंग है।''[19] यहां ' निज' एक चैतन्य राजनीतिक पहचान के रूप में आता है, जिसने अतीत के अनुभवों से भविष्य को देखने की दृष्टि ग्रहण की है। अमेरिका में अश्वेतों ने आत्मकथ्य लेखन द्वारा आत्मविकास और आत्मस्वातंत्र्य का दरवाज़ा खोला। सदियों की दासता और दमन से मुक्त होने में हैरिएट बीचर स्टोव,[20] ज़ोरा नील हर्स्टन, हैरियट जेकब्स, मैटी जैकसन, इज़ाबैला बोभफ्री और हैरियट टबमैन जैसी रचनाकारों का रचनात्मक प्रतिरोध अंततः रंग लाया। हैरियट जेकब्स ने आत्मकथा को 'विद्रोह की लपट' कहा, वह उन साहसी अश्वेत स्त्रियों में से थी जिसने गुलामी की जंजीरें तोड़ी, भागकर अपनी आज़ादी पाई और अपनी आज़ादी पाकर अन्य बहुत से गुलामों को आज़ादी दिलाने में सहायता दी। आज उसकी आत्मकथा 'एक गुलाम लड़की की ज़िंदगी' के अंश पाठ्यक्रमों में पढ़ाए जाते हैं। वह लिखती हैं— ''अपने जन्म के वक्त मैं गुलाम ही थी.....

मेरे पिता का मुख्य उद्देश्य था अपने बच्चों की आजादी खरीद सकना। पर वे कई बार कोशिश करने पर भी इसमें सफल नहीं हो पाए।..... पंद्रह वर्ष की आयु में मेरे साथ एक गुलाम स्त्री के जीवन का दुख आरंभ हुआ। मालिक मेरे कानों में गंदे शब्द फुसफुसा जाता। छोटी उम्र में भी मैं उनका मतलब समझती थी। मैंने अनभिज्ञता या घृणा दिखा कर उन्हें टालना चाहा। मालिक की बड़ी उम्र, मेरी छोटी आयु और दादी को न बता सकने की मेरी मजबूरी ने कई महीने मालिक की इस बात को बढ़ावा दिया था। वह इस मामले में दक्ष था और अपना मतलब पूरा करने के कई हथकण्डे अपनाता था। कई दफा वह तूफान की तरह रौद्र रूप में आ जाता , जिससे मैं काँपने लग जाती, और दूसरी दफ़ा वह नर्मी से पेश आता, सोचता कि थोड़ा ऐसा दिखाना चाहिए। दोनों में से मैं रुद्र बर्ताव को ही ज्यादा बेहतर मानती थी। दादी ने मुझे पवित्रता से रहना सिखाया था। वह मेरे युवा मस्तिष्क को ऐसी कल्पनाओं से भर देता, जैसा कोई दैत्य-दानव ही कर सकता है। मैं घृणा और उपेक्षा से हट जाती।..... पर मुझे शरण कहां मिलती? गुलाम लड़की काले शहतीर की तरह स्याह काली हो या अपनी मालकिन की तरह गोरी, किसी भी तरह का कानून उसे बचा नहीं सकता— किसी भी अपमान, हिंसा और यहां तक कि मौत से भी। इस असहाय प्राण की मालकिन मदद करने करने के बजाय क्रोध और जलन से भरी रहती है। गुलामी में, जीवन शुरू होते ही ऐसे काले साए उमड़ते रहते हैं। यहां तक कि मालकिन और छोटे बच्चों की गुलाम बारह वर्ष की छोटी उम्र की लड़की को भी पता लग जाता है, कि मालकिन किस-किस गुलाम स्त्री से घृणा करती है। वह स्त्री उस गुलाम बच्ची की मां भी हो सकती है।..... दक्षिण की श्वेत स्त्रियां अपने ब्याह के समय यह अक्सर जानती हैं कि उनका पति कई छोटे गुलामों का पति है। पर वह इस बात की परवाह नहीं करतीं। ऐसे बच्चे उनकी जायदाद का हिस्सा होते हैं। खेत के सुअरों की तरह उन्हें बेचा जाता है। और गुलामों के किसी दलाल को उन बच्चों को सौंप कर वह यह बात जता देती हैं और खुद मुक्त हो जाती हैं।[21]

वर्जीनिया में 1672 में जब पहली बार अश्वेत दासों की खेप उतारी गई थी, तब से 1861 तक, जब कि उन्हें वैधानिक तौर पर स्वतंत्र घोषित किया गया, अश्वेतों में से अधिकतर वफ़ादार गुलाम का जीवन जीते थे। उन्हें लगता था कि ईश्वर ने उन्हें 'गुलाम' बनने के लिए ही पैदा किया है। 1861 में उन्हें स्वतंत्रता मिली लेकिन इस अचानक मिली स्वतंत्रता की उपादेयता से वे वंचित थे, कारण था गुलामी के प्रति मानसिक अनुकूलन और अशिक्षा एवं निर्धनता। स्वतंत्रता मिली, कानूनी अधिकार मिले, लेकिन सामाजिक स्वतंत्रता का क्या? उस पर तो किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। साधनहीन, अधिकारहीन काले अमरीकी शेष समाज की घृणा और उपेक्षा का पात्र बन गए।

उपेक्षा, पीड़ा, अपमान और त्रासदी के साथ सामाजिक अधिकार प्राप्त करने के संघर्षों को अश्वेतों ने आत्मकथ्यों द्वारा व्यक्त किया। गुलाम जनों की इन अनगिन गाथाओं, जिन्हें ''Slave narratives''[22] कहा गया— ने अबतक के साहित्य और अभिजनवादी रुचि को दरकिनार कर, हाशिए के समाज का नया, ज्यादा सच्चा, ईमानदार और मर्मस्पर्शी साहित्यिक-सांस्कृतिक इतिहास रच डाला। 'स्लेव्ज़ नैरेटिव्ज' में स्त्री-पुरुष गुलामों का जीवन, और उनके विविधस्तरीय अनुभव व्यक्त हुए। अश्वेत स्त्री गुलामों की अतिरिक्त शोचनीय स्थिति पीड़ा की बहुआयामी कथाओं (जो सच्ची हैं) के

माध्यम से व्यक्त हुईं।, इन्हें उन स्त्रियों ने लिखा जो बच्चा जनने के चौबीस घंटे के अंदर-अंदर खेतों पर कठिन श्रम करने को विवश हैं। जिनकी संतति मालिक की संपत्ति है, जिसे कभी भी बेचा जा सकता है। वह स्त्री— जिसकी विवशता का ये आलम है कि बीमारी की हालत में, मालिक उसका यौन शोषण करता है और इलाज के लिए उस चिकित्सक के पास भेजता है— जो छूत का रोगी है। अश्वेत गुलाम स्त्रियों के आत्मकथ्य बहुआयामी, बहुस्तरीय शोषण के ज्वलंत दस्तावेज़ हैं। स्त्री होने की यातना, यौन-शोषण, गुलामी और रंगभेद के कारण भेदभाव और पीड़ा के दिल-दहलाने वाले अनुभव एक-दूसरे की यातनाओं के साथ तादात्म्य संघर्षों में भागीदारी की अनोखी भूमिका रचते हैं, साथ ही वैश्विक सखी भाव' के परिदृश्य का विस्तार भी करते हैं। अमेरिका में अश्वेतों द्वारा आत्मकथा-विधा को अपनाने के पीछे गहरे सामाजिक-व्यक्तिगत कारण हैं। अश्वेत स्त्रियों ने इनके द्वारा एक सशक्त राजनीतिक पहचान बनाई— ये उनका अपना तरीका था— स्वतंत्रता छीनने और गुलामी से मुक्ति पाने का[23]। इसलिए वर्नीस जॉनसन रीगन ने अश्वेत स्त्रियों की आत्मकथाओं को 'सांस्कृतिक आत्मकथाओं' का नाम दिया, क्योंकि एक अश्वेत स्त्री की अस्मिता को उसके समूह की अस्मिता से अलग करके समग्रता में जाना-समझा नहीं जा सकता। ये अश्वेत स्त्रियाँ आत्मकथा लेखन द्वारा राष्ट्रीय मुक्ति की वृहत्तर धारा का अनिवार्य अंग बनती हैं और स्वयं को परंपरा की वाहिका और सांस्कृतिक निर्माणकर्त्री मानती हैं। नैंसी चोदोरोव ने स्त्री की इसी निजी अस्मिता की बात की थी, जिसे मैरी मैसोन जैसी प्रतिक्रियावादी आलोचक ने भी, एक सीमा तक स्वीकार किया।

मैरी मैसोन का मानना है कि स्त्रियों का 'आत्म' या निज अपने आसपास के लोगों के अस्तित्व पर निर्भर करता है। जहां स्त्रियाँ यह महसूस करती हैं कि उनका विरोध और उपेक्षा हो रही है, वहां वे 'आत्म' को नाटक के स्तर पर प्रस्तुत नहीं करती।[24] मैरी मैसोन ने पुरुष आत्मकथाओं पर टिप्पणी करते हुए सेंट आगस्टीन के आत्मकथ्य (Confession) का उदाहरण देते हुए कहा कि पुरुष स्वयं को 'नायक' के रूप में प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, जबकि स्त्रियों का आत्मकथा लेखन अपने आसपास के लोगों की उपस्थिति और पहचान को ज्यादा महत्त्व देता है।

स्त्री आत्मकथ्यों में, अपने आसपास के लोगों, परिस्थितियों और मनोसामाजिक अनुभवों की अभिव्यक्ति के संदर्भ में यह देखा जाना जरूरी है कि स्त्रियां 'मैं' और 'तुम' को किस सीमा तक और कैसे अभिव्यक्त करती हैं। 'लिखना' दरअसल अपने अनुभव संसार का पुनर्सृजन है। वाल्टर बेंजामिन ने 'आत्मकथा' को स्मृति और विस्मृति के द्वंद्व का परिणाम माना है। स्त्रियाँ किसी पुरुष लेखक की अपेक्षा संबंधों की जटिलता, कटुता, मृदुता, सफलता-असफलता, किसी विशिष्ट समूह या व्यक्ति विशेष से संबंधों के तनाव या लगाव का उद्घाटन ज्यादा रुचि और अपेक्षाकृत ईमानदार ढंग से करती हैं। उनके यहां माता-पिता, भाई-बहन, पति, प्रेमी या मित्र के साथ संबंधों के तनाव या यों कह लें, कि उन प्रसंगों को, पर्याप्त वर्णनात्मकता के साथ जगह मिलती है, जिनमें भिन्न सामाजिक संरचनाओं से आए हुए लोगों के साथ संपर्क, अलगाव और विलगाव होता है। इसी प्रक्रिया में उनके 'मैं' का विस्तार 'तुम' में होता चलता है। दरअसल वे अपने-आपको विशिष्ट दिखाने और दीखने के बजाय अन्य स्त्रियों के साथ अपने अनुभव संसार को बांटना चाहती हैं। अस्मिता का यह आयाम निजी संबंधों

के तनाव में ज्यादातर दिखाई देता है। यह भी देखा गया है, कि कुछ स्त्रियों की आत्मकथा पूरी तरह मनोविश्लेषण पर आधारित होती है। सीमोन द बोउवार की आत्मकथा को इस दृष्टि से देखा जा सकता है। पुरुष जगत में स्त्री प्रवेश नहीं कर सकती क्योंकि उसके अनुभव उसे ऐसे तर्क और ज्ञान नहीं सिखाते जिनके साथ वह आगे बढ़े। साथ ही स्त्री क्षेत्र की सीमा पर पुरुष के शस्त्र भी शक्तिहीन हो जाते हैं। मानव-स्वभाव का एक ऐसा भी क्षेत्र है, जिसकी पुरुष अवहेलना करता है। दूसरे के बारे में वह सोचता भी नहीं, पर स्त्री को इस अनुभव को प्राप्त करना ही पड़ता है।' सीमोन द बोउवार ने अपनी आत्मकथाओं— 'मेमोआयरर्स ऑफ अ ड्यटीफुल डॉटर' 'द प्राइम ऑफ़ लाइफ़' 'फ़ोर्स टू सरकमस्टान्सेस', 'ऑल सेड एंड डॅन' में 'मैं' और 'वह' की चर्चा अक्सर की। 'द प्राइम ऑफ लाइफ़' में वे लिखती हैं— ''यदि आप कैफ़े में घुसने पर अपने ही दो आत्मीय मित्रों को परस्पर बातचीत में व्यस्त देखें, तो बेहतर है बिना दखल दिए चुपचाप ओझल हो जाएं।'' स्वयं की मुक्ति का द्वार दूसरे को मुक्त किए बगैर खुलना संभव नहीं, सीमोन का यह विश्वास आत्मकथ्यों का अन्तर्ध्वनित स्वर है। सार्त्र के साथ बिताए समय के बारे मे वह लिखती हैं ''हम रोज सुबह लक्ज़मबर्ग गार्डन में मिला करते और देर रात एक दूसरे से विदा लेते। हम पेरिस की गलियों में, अपने बारे में, अपने संबंधों के बारे में, अपने भविष्य और अनलिखी पुस्तकों के बारे में ढेरों बातें करते (पृ.17) हम अपने-आपको पूरी तरह आत्मनिर्भर समझते— रचनाकार की सृजनात्मकता के लिए यह सब ज़रूरी था।' (पृ. 18-19) उनके (सार्त्र) पास बहुत कम पैसे होते थे, फिर भी वे बहुत पीते थे, कभी-कभी तो रात के दो बजे तक वे पीते, उसके बाद ही मैं सोने जाती। सार्त्र ने दीर्घकालिक संबंध पर बहुत ज़ोर दिया, इसलिए मैं राज़ी हुई थी, जिसमें दूसरे संबंधों पर कोई रोक नहीं होनी थी। हमारे बीच यह भी तय हुआ कि हम एक-दूसरे को सब कुछ बताएँगे और एक दूसरे से कभी झूठ नहीं बोलेंगे, न ही कुछ गुप्त रखेंगे' (पृ.24) जब सार्त्र की नियुक्ति मार्सेय में हुई तो पहली बार सार्त्र ने उससे विवाह का प्रस्ताव किया, ताकि दोनों को एक ही जगह नौकरी मिल सके, लेकिन सीमा ने सार्त्र का प्रस्ताव ठुकराते हुए पारिवारिक जीवन में अपनी अनास्था व्यक्त की, और कहा कि वह कभी संतानोत्पत्ति नहीं करेगी। (पृ.67) 'फ़ोर्स टू सरकमस्टांसेज' में सीमोन ने आत्मनिर्भरता की बात बार-बार कही। सार्त्र जब सीमोन की शिष्या ओल्गा के प्रति आकर्षित हुए तब भी सीमोन ने उसे विवाद का मुद्दा नहीं बनाया, बल्कि 'शी केम टू स्टे' शीर्षक उपन्यास में मार्मिक अभिव्यक्ति दी। सीमोन ने डायरी के इस खंड में उस प्रसंग का भी ज़िक्र किया, जब किसी पत्रकार ने उनसे सार्त्र के साथ दीर्घकालिक संबंधों पर जिज्ञासा की। सीमोन का जवाब था ''मेरी स्वाधीनता (सार्त्र के संदर्भ में) पर कभी खतरा नहीं रहा, क्योंकि मैंने कभी भी अपने उत्तरदायित्वों से मुँह नहीं मोड़ा, या उन्हें सार्त्र पर लादा। मैंने, तब तक किसी विचार या निर्णय पर सहमति नहीं दी जब तक वह मेरे 'निज' के विश्लेषण की कसौटी पर खरा नहीं उतरा। मेरी संवेदनाएँ और अनुभव शेष, संसार से, मेरे सीधे संपर्क से उत्पन्न हुईं..... सार्त्र ने मेरा सहयोग ज़रूर किया और मैंने सार्त्र का। मैंने अपने जीवन और निर्णयों का दायित्व सार्त्र पर कभी नहीं डाला.....'' (पृं. 645 फोर्स टू सरकमस्टासेज़) 'द फेयरवेल टू सार्त्र' में भी सीमोन ने सार्त्र के साथ बिताए हुए जीवन और स्वयं के अनुभवों के माध्यम से बृहत्तर स्त्री आबादी और स्त्री प्रश्नों को बड़ी ही मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया।

सार्त्र के साथ बातचीत के कुछ अंतरंग अंश सीमोन ने पाठकों के सामने रखे। फ्रांस के स्त्री मुक्ति आंदोलन, गैरकानूनी गर्भपातों का आत्मस्वीकार, अपने प्रेमियों सार्त्र, लेंजमैन, एलग्रेन के साथ संबंधों की बेबाक अभिव्यक्ति 'द फ़ोर्स ऑफ़ सरकमस्टान्सेज़' (आत्मकथा का तृतीय खंड) और 'आल सेड एण्ड डन' (चौथा खंड) में देखी जा सकती है।

स्त्री की स्पष्टवादिता और उस स्पष्टवादिता के खतरे, स्व की सीमा का अतिक्रमण करके 'निज, का 'पर' में परिविस्तार और फिर समाज, इतिहास, वर्ग के संघातों से गुज़रती हुई स्त्री जो एक 'स्त्री' मात्र नहीं रह जाती बल्कि लाखों-करोड़ों की आवाज़ बन जाती है। भिन्न समाज और भिन्न संस्कृति की रचनाकार देखे-अनदेखे सभ्य-असभ्य सामाजिकों की चेतना को अपने अनुभव के दायरे में कितनी सहजता से घेर लेती है, सीमोन की डायरी और आत्मकथ्यों को इस दृष्टि से देखा जाना चाहिए। 'सीमोन द बोउवार' की आत्मकथा[25] स्त्री जीवन पर आधारित पाठों को मनो-राजनीतिक पहलू से देखने को भी विवश करती है, साथ ही बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और इक्कीसवीं सदी के प्रथमांश की आत्मकथाओं के बरअक्स इसे रखने से एक पूरी साहित्यिक परंपरा हमारे समक्ष जीवंत हो उठती है। नैंसी चोदोरोव और शीला रॉबाथम ने स्त्री आत्मकथाओं के मनो-राजनीतिक पाठ की संभावनाओं का संकेत किया था। उनका मानना था कि चूंकि स्त्री के अहं की सीमाएँ लचीली और तरल होती हैं अतः वह 'वह' को 'मैं' के साथ ज्यादा स्वीकृति दे पाती हैं, साथ ही माता-पुत्री का परास्परिक संबंध स्त्री के व्यक्तित्व को, उसकी सृजनधर्मिता और अभिव्यक्ति को समझने में ज्यादा मदद कर सकता है। हालांकि ये सूत्र एक सीमा तक ही आत्मकथ्यों पर लागू किए जा सकते हैं, फिर भी 'ए ड्यूटीफुल डॉटर' (सीमोन द बोउवार) को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। नैंसी चोदोरोव और रॉबाथम की मनोविश्लेषणात्मक और ऐतिहासिक विश्लेषणात्मक स्त्री को 'निज' के तौर पर खोजने और देखने की दृष्टि प्रदान करती है। आत्मकथ्यों में व्यक्त 'निज' हमेशा अपने-आपको दूसरों के विरोध में नहीं रखता, वह अपने को, दूसरों से विशिष्ट दिखाने का प्रयास भी नहीं है, न खुद को दूसरों से छोटा दिखाने की कोशिश ही, बल्कि वह दूसरों के साथ 'सहअस्तित्व' की आनुभविक अभिव्यक्ति है। रॉबाथम ने स्त्री के सामूहिक अकेलेपन की बात की, साथ ही इस संदर्भ में स्त्री भाषा पर भी विचार किया। नैंसी चोदोरोव ने माता-पुत्री के पारस्परिक संबंधों के विश्लेषण की प्रक्रिया में स्त्री के व्यक्तित्व, उसकी निजी अस्मिता के निर्माण की बात कही, लेकिन आलोचकों ने आत्मकथाओं के विश्लेषण के संदर्भ में इन दोनों सिद्धांतों का प्रयोग पूरी तरह या स्पष्ट तौर पर नहीं किया, कुछ ने समानान्तर धाराओं पर काम किया, कुछ अलग-अलग पड़े समूहों और जातीय चेतना पर काम करते रहे, और कुछ निजी अस्मिता के निर्माण की प्रक्रिया पर विचार करते रहे। जबकि नैंसी चोदोरोव की मनोविश्लेषणात्मक पद्धति स्त्री पाठ के विश्लेषण में बहुत दूर तक सफल हो सकती है। यह पद्धति विकसनशील लड़कियों के 'अहं' के निर्माण की प्रक्रिया का विश्लेषण करती है। बढ़ती बच्चियाँ स्वयं को दूसरों की आँखों से देखकर परिभाषित करती हैं। अपने बारे में उनके विचार समवयसी पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक लचीले होते हैं। पुरुष-बालक स्वयं को ज्यादा विशिष्ट और अलग समझते हैं, उनका 'अहं' ज्यादा दृढ़ होता है, उनमें विलगाव होता है, जबकि

स्त्रियों में स्त्री-तत्व का आधिक्य शेष संसार के प्रति उन्हें ज्यादा संपृक्त बनाता है। पुरुषों की मनः संरचना स्त्रियों से भिन्न होती है— संबंध न निर्वहण की क्षमता, उनमें स्त्रियों से कुछ कम होती है। वे स्त्रीत्व और स्त्री के साथ संबंधों को कम मान्यता देते हैं, जबकि स्त्रियाँ संबंधों में निज के साथ-साथ दूसरों के लिए भी पर्याप्त अवकाश रख पाती हैं, वे मानसिक संसार के साथ व्यवहार में भी 'समूह' बनाने की भावना से आपूरित रहती हैं। नैंसी चोदोरोव की सैद्धांतिकी में दो बातें उभरकर आती हैं— पहली तो यह कि पुरुष और स्त्री लिंग के आधार पर अलग हैं इसलिए उनकी मानसिक संरचना और सामाजिकीकरण में परस्पर अंतराल दिखाई देता है। अंतराल का यह अहसास स्त्रियों के अवचेतन में रहता है, जिससे कहीं न कहीं स्त्री पाठ प्रभावित होता है। स्त्री के द्वारा लिखे हुए पाठ में 'व्यक्ति न स्वयं का और न दूसरों का विरोध करता है' इस संदर्भ में नैंसी ने माता और शिशु के संबंधों को देखने पर बल दिया। इस तरह वे एक ओर मनोविश्लेषण के सिद्धांत को माता और शिशु के संदर्भ में लागू करती हैं, तो दूसरी ओर वैश्विक मातृत्व की संकल्पना को खारिज करते हुए उन्होंने कहा कि समूह में रहते हुए भी कोई एक स्त्री या स्वयं मां ही शिशु की देखभाल प्रमुख रूप से करती है, यह संभव है कि समूह की अन्य स्त्रियाँ शिशु के लालन-पालन में मां का सहयोग करें। पुरुष शिशु का प्रथम प्रेम माता से होता है, माताएं अपने पुत्रों को विपरीत लिंगी पुरुषों के रूप में देखती हैं। पुत्र को माता से दूर करने और पिता (जो पुरुष है) से तदाकारिता स्थापित करने के प्रयास किए जाते हैं। पुत्र के सामने पिता का, और पुत्री के सामने माता का आदर्श स्थापित किया जाता है। दूसरी बात यह है कि माता और पुत्री का संबंध स्त्री-व्यक्तित्व निर्माण की केंद्रीय भूमिका निभाता है। नैंसी का मानना है कि सख्य भाव का विस्तार या लेस्बियन स्त्रियों का पारस्परिक आकर्षण वस्तुतः अपनी माता के प्रति अव्यक्त प्रेम का ही परिविस्तार है। माता अपनी पुत्री में अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विस्तार खोजती है। मां और बेटी- दोनों एक दूसरे में विलय होने और अलग होने का अनुभव बहुत गहराई से करती हैं और ''समलैंगिक स्त्रियाँ मां-बेटी की भावनाओं को पुनः जीने और संबंधों के पुननिर्माण का प्रयास करती हैं।''[26]

सुसान स्टेनफोर्ड फ्रीडमैन ने आत्मकथा के संदर्भ में 'स्त्रियों की संस्कृति को हाशिए की संस्कृति' के नाम से अभिहित किए जाने और लैंगिक पूर्वाग्रहों से बचने की सलाह दी।[27] उनका मानना है कि दमनकर्त्री पुरुषप्रधान विचारधारा के प्रति हमें नकारात्मक रवैया न अपनाकर 'सामूहिक अस्मिता' के निर्माण और शक्ति के प्रेरक स्रोत के रूप में देखना चाहिए। सुसान स्टेनफोर्ड ने आत्मकथा की अब तक प्रचलित अवधारणाओं पर गंभीरता से विचार किया, साथ ही समुदायों की अन्योन्याश्रित छोटी-बड़ी अस्मिताओं को भी अपनी सैद्धांतिकी में समेटने का प्रायस किया। 'आत्मकथा' व्यक्ति और समाज के बीच की दरारों को दिखाती हैं। ये दरारें काल और समय की, व्यक्ति और समाज के साथ परंपरा और प्रचलन की तथ्य और सत्य की, व्यवहार और विमर्श के बीच के अंतराल को चिन्हित करती हैं। आत्मकथा के आदि आलोचक जार्जेस गस्डोर्फ़ ने विधा के रूप में आत्मकथा के आगमन को नई आध्यात्मिक क्रांति का प्रारंभ मानते हुए कहा— 'सारे प्रश्न तब बदल जाते हैं जब किसी अस्मिता का निजी चेहरा ज्यादा महत्त्व पाने लगता है।' गस्डोर्फ़ ने स्त्री और पुरुषों के आत्मकथा लेखन की वस्तु के आधार पर तुलना करके कुछ अति सामान्यीकृत निष्कर्ष निकाले थे, मसलन स्त्रियाँ जब आत्मकथ्य

लिखती हैं, तो उनमें अतीत जीवन के प्रारंभिक वर्षों के खंगालने की प्रवृत्ति ज्यादा होती है, जबकि पुरुष आत्मकथ्य लिखकर स्वयं को जानने की कोशिश करते हैं, साथ ही यह भी कि वह व्यक्ति के रूप में 'अन्य' लोगों से अलग कैसे हैं।

आत्मकथ्य के संदर्भ में भाषा का अपना वैशिष्ट्य होता है। पुरुषों के आत्मकथ्यों में भाषा का ज्यादा प्रभावी और पुरुष रूप दिखाई देता है, जबकि स्त्री आत्मकथाओं की स्थिति इससे थोड़ी अलग है, जहाँ पुरुष भाषा फेलोसेंट्रिक है वहीं स्त्री रचनाकारों में अपने 'अनन्या' होने का अहसास निरंतर उपस्थिति रहता है, जिससे उनकी भाषा कोमल, कहीं-कहीं घरेलू बातचीत और रोजमर्रा के प्रतीक और बिंबों से समन्वित होती हैं। ज्यादातर लेखिकाएँ अभिधात्मक तरीके से आत्मा भिव्यक्ति करना पसन्द करती हैं। समाज पुरुष प्रधान है— स्त्रियों की सामाजिक हैसियत जो 'लिंग' पर आधारित है—यह अहसास उन्हें जन्म के बाद से निरंतर कराया जाता है, या सीमोन के शब्दों में कहें, स्त्री बनायी जाती है। रागालैंड सुलीवाल का कहना है, कि पिता ही परिवार में सीमाएँ निर्धारित करने का काम करता है— अपनी संतति को सीमा में रहने की शिक्षा देता है। माता की अपेक्षा संतानें पिता को शासक और समादृत रूप में देखती हैं जिसके आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं। पिता परिवार का सत्ता-केंद्र होता है, वही संतानों को सबसे पहले परिवार के नियमों के बारे में बताता है। स्त्री-पुरुष का यही अन्तराल विभेदक होता है— विशेषकर आत्मकथा लेखन में। हालांकि, कुछ विचारक भाषा के स्तर पर स्त्री-पुरुष के पारस्परिक अन्तर को स्वीकार नहीं करते, लेकिन स्त्रियों द्वारा कहे-लिखे आत्मकथ्य इस अंतराल को प्रमाणित करते हैं। स्त्री आत्मकथ्य स्वयं में बारम्बार कहा जाने वाला अनुवादरहित, अनकहा संदेश है, यह संदेश उनके लिए है जो वर्चस्वशाली संस्कृति के उच्च पदों पर बैठे हैं उन्हें यह संदेश स्त्रियों द्वारा दिया जा रहा है, हाशिए की अस्मिताओं द्वारा दिया जा रहा है, उन सभी की ओर से जो समाज के हाशिए पर स्थित हैं।

आत्मकथा लेखन के संदर्भ में यह प्रश्न विचारणीय है कि आत्मकथा लेखन किसके लिए किया गया है। और इस विशिष्ट विधा को ही अपनाने के क्या कारण हैं। 'ए रूम ऑफ़ वन्स ओन' की लेखिका वर्जीनिया वुल्फ़[28] ने विधा के प्रश्न पर विचार किया था। 1919 में 37 वर्ष की उम्र में, डायरी लिखते समय उन्हें डायरी लेखन की उपयोगिता का प्रश्न बेचैन करता है, साथ ही वे यह भी सोचती हैं, कि किसी व्यक्ति को उम्र के किस पड़ाव पर डायरी या संस्मरण लेखन का काम करना चाहिए। वे लिखती हैं—''मेरी डायरी को रचना के तौर पर नहीं लिया जाना चाहिए। मैंने अभी-अभी अपनी डायरी को पुनः पढ़ा और पाया कि मैंने, जीवन की घटनाएँ ऊबड़-खाबड़ बेतरतीब ढंग से इसमें लिख दी हैं, उन्हें पढ़ना वैसा ही है जैसे घोड़े की पीठ पर बैठकर बहुत ही ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर जाना (20 जनवरी 1919) ठीक इसी के बाद वे लिखती हैं—''लेकिन यह भी सच है कि अगर मैं रुकती और सिलसिलेवार ढंग से विचार करती तो यह डायरी कभी लिखी ही नहीं जाती..... हो सकता है पुनर्विचार करने पर इसी डायरी में से एक बेहतर और व्यवस्थित रचना निकलती, लेकिन तब वे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ शायद छूट जातीं, जिन्हें पुनर्विचार की प्रक्रिया में, मैं नैसर्गिक संकोच के कारण छोड़ देती, किंतु वे प्रसंग तो वस्तुतः धूल में पड़े रत्न ही तो हैं।'' वुल्फ़ स्वयं की कल्पना पचास वर्षीया

के रूप में करते हुए लिखती हैं, कि उन्होंने चश्मा लगा रखा है और संस्मरण लिखने की प्रक्रिया में अतीत के वर्षों, घटनाओं को खंगाल रही हैं। अट्ठावन वर्षीया वुल्फ़ अपने संस्मरण में लिखती हैं— ''कभी-कभी सोचती हूँ और अपने-आप से पूछती हूँ कि अंततः यह तमाम असम्बद्ध बातें और अव्यवस्थित लेखन कौन पढ़ेगा? फिर सोचती हूँ किसी न किसी को इस लेखन में से कोई न कोई तत्त्व ज़रूर मिलेगा जो उसके अनुभव को परिपक्व बनाने में सहायक होगा'' (19 फरवरी 1940)

वर्जीनिया वुल्फ़ अपने संस्मरण नहीं लिख सकीं, लेकिन उनके आत्मकथांश डायरियों और पत्रों में भरे पड़े हैं। डायरी में ही उन्होंने लेखन की आवश्यकता, संस्कृति के संदर्भ और स्त्री लेखन की सैद्धांतिकी जैसे प्रश्नों पर विचार किया। वर्जीनिया वुल्फ़ की डायरी-आत्मकथा, संस्मरण जैसी विधाओं को अपने में समेटे हुए है, यहाँ तक कि 'टू द लाइटहाउस' और 'द इयर्स' शीर्षक दो उपन्यासों में भी उनके आत्मानुभवों की ही अभिव्यक्ति कहा जाता है।[29]

स्त्री आत्मकथा की रचना में तत्पर क्यों होती है? आत्मकथ्य वह किसके लिए लिखती है? स्त्री सैद्धांतिकी के अनंतर यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। अपने जीवन को पन्नों पर उतार देना-बहुत साहस की मांग करता है, साथ ही इसे परिवर्तनकामी शक्तियों के आगमन और स्वीकार से जोड़कर देखा जाना चाहिए। मेरी जीन कार्बेट ने स्त्रियों को सुझाव दिया था कि ''स्त्रियाँ अपने तनाव और चिन्ताओं को दूसरे से साझा कर, पढ़कर और व्याख्यायित कर दूसरों के इतिहास से अपने अतीत की तुलना कर अपने व्यक्तित्व को सही आकार देने में सक्षम हो सकती हैं।''[30]

आत्मकथा लेखन को अपने तनाव और चिंतन-मनन की रचनात्मक 'शेयरिंग' से जोड़ा जा सकता है। हालांकि एक स्त्री, देश-काल की सांस्कृतिक सीमाओं के परे, आत्मकथ्य लिखते या कहते समय निरंतर इस तनाव से जूझती है कि वह जीवन सत्य के किन पहलुओं को छोड़े और जोड़े। चारित्रिक दुर्बलता और फिसलन के प्रसंगों में से किन्हें लिखे और किन्हें छोड़े, सत्य और कल्पित प्रसंगों में से क्या रखे! स्त्री रचनाकार का वैश्विक नज़रिया, जीवन मूल्य, संस्कार, भाषिक कौशल, राजनीतिक संदर्भ और उसके जीवन की नियंत्रक शक्तियाँ-इसको प्रभावित करती हैं, इसलिए रीता फेल्स्की को लगता है कि 'स्त्रियों की आत्मकथाओं में इच्छा और सत्य का तनाव, दिखाई देता है। उनका ईमानदार आत्म निरंतर सत्य के पक्ष में बोलने के लिए पर्युत्सुक रहता है जबकि बाहरी दबाव इस अभिव्यक्ति पर अंकुश लगाते हैं।''[31] आत्मकथाओं को कौन-सा पाठक पढ़ेगा, पाठकीय वर्ग और रुचि भी रचना को प्रभावित करती है। स्वान्तः सुखाय का दावा करने वाला रचनाकार के अवचेतन में भी ज़्यादा से ज़्यादा पाठकों तक स्वयं को प्रसारित करने की लालसा सुप्त रहती है। अठारहवीं सदी की रचनाकारों ने मित्रों और सगे-संबंधियों के लिए लिखा, लेकिन मुद्रण और आधुनिक जनमाध्यमों ने बीसवीं सदी की रचनाकारों को वृहत्तर पाठक समुदाय तक पहुँचाया कई बार यह भी होता है कि आत्मकथा की रचना अनदेखे अनजाने या कल्पित पाठक समुदाय के लिए की जाती है, यहाँ तक कि डायरी लेखन में भी, जहाँ रचनाकार अपना ही लिखा बारंबार पढ़ता है, वहाँ पुनर्पठन की प्रक्रिया में पुनर्सृजन भी होता चलता है। ऐसे में लेखक/रचनाकार स्वयं ही पाठक की भूमिका निबाहने लगता है— डायरी के पृष्ठ रचनाकार के लिए दर्पण-से हो जाते हैं। आत्मकथ्यों में स्मृति का पुनर्लेख कल्पना के मिश्रण से नूतन सृजन का

रूप धर लेता है— विशेषकर स्त्रियों में निजी, आंतरिक बातों का खुलासा करने, प्रताड़नाओं की अभिव्यक्ति की पुनरावृत्ति का आरोप लगाया जाता है। स्त्रियाँ यौन इच्छाओं, दमन और प्रताड़ना की जब बेबाक अभिव्यक्ति करती हैं— तो इसके पीछे कम से कम समय में बहुत कुछ कह डालने की हड़बड़ाहट के साथ पाठकीय रुचि का ध्यान भी है। पाठकों को आत्मकथा का कौन-सा प्रसंग लुभावना (Exotic) और सरस लग सकता है— इसके आधार पर भी ऐसे प्रसंगों का ज़िक्र विस्तार और कभी-कभी अतिविस्तार से करती हैं। अपने किए और जिए हुए को, अनुमोदित कराने की दृष्टि से भी रचनाकार एक विशिष्ट पाठक-वर्ग की रुचि का ध्यान रखती है। ऐसी रचनाओं में सायास आत्मानुशासन, साहित्यिक और सांस्कृतिक कायदों के पालन की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

आलोचकों ने आत्मकथा को एक जनतांत्रिक विधा के रूप में देखने की सिफ़ारिश की है, जिसमें अन्य कई विधाओं की स्वाभाविक अन्तर्भुक्ति होती है। ऐसी विधा की कृति यानि 'आत्मकथा' पढ़ना दूसरे के अहं के पुनर्लेख से गुज़रना मात्र नहीं है, बल्कि यह है दूसरे के अनुभव संसार से गुज़रना— वे लोग, स्त्रियाँ जिन्हें हम बिल्कुल नहीं जानते या बहुत कम जानते हैं- उनके बारे में बहुत कुछ जानने का ख़तरा उठाना। आत्मकथाएँ निजी ज़िंदगियों के साथ टकराती हैं और अनुभूतिप्रवण पाठकों की संवेदना को समृद्ध करने के साथ ही उनमें अपने व्यक्तित्व व परिवेश को लेकर आलोचनात्मक चेतना उत्पन्न करती हैं।

संदर्भ

(1). द फ़ीमेल ऑटोग्राफ़ - डोम्ना सी. स्टेनटोन (VII) संदर्भोल्लेख सिचुएटिंग सब्जेक्टिविटी-सिडनी स्मिथ और जूलिया वॉटसन, वूमन ऑटोबायोग्राफ़ी थियरी : रीडर- यूनिवर्सिटी ऑफ़ विस्कोंसिन प्रेस। (2). फ़ीमेल रीटोरिक्स - 'द प्राइवेट सेल्फ़' पृ. 188 सं. शारी बेनस्टॉक राउल्टेज प्रकाशन, यूनिवर्सिटी ऑफ नार्थ कैरोलीना प्रेस, सं. 1988 (3). सिचुएटिंग सब्जेक्टिविटी इन वूमन्स ऑटोबायोग्राफ़िकल प्रैक्टिसेज़ - सिडनी स्मिथ और जूलिया वाटसन, भूमिका पृ. 6 (4) सीता-केट मिलेट, फरार स्टारस ऐड गिरॉक, न्यूयार्क, 1977 (5). लिटरेरी वूमन-एलेन मोयर्स, गार्डन सिटी, न्यूयार्क 1976 (6). राइटिंग अ वूमेंस लाइफ़-कैरोलेन जी हेलब्रन (11,16,17 पृ.) संकलित लेख-सिचुएटिंग सब्जेक्टिविटी इन वूमेन्स ऑटोबायोग्राफ़िकल प्रैक्टिसेज़ तथा डब्ल्यू-डब्ल्यू नार्टन 1988, न्यूयार्क (7).सिचुएटिंग सब्जेक्टिविटी इन वूमेन्स ऑटोबायोग्राफ़िकल प्रैक्टिसेज भमिका-पृ0 5 (8).राइटिंग अ वूमेंस लाइफ़-कैरोलन जी हेलब्रन-डब्ल्यू-डब्ल्यू नार्टन 1988 न्यूयार्क (9) उपन्यास का समाजशास्त्र-(सं.) गरिमा श्रीवास्तव, भूमिका, पृ0 8 प्र.सं. 2006 संजय प्रकाशन, नई दिल्ली (10). बीइंग द सब्जेक्ट एंड द आब्जेक्ट:रीडिंग

अफ्रीकन- अमेरिकन वूमेन्स नावेल्स : इन चेंजिंग सब्जेक्ट्स द मेकिंग ऑफ़ फेमिनिस्ट लिटरेरी क्रिटिसिज्म-सं.गाले ग्रीन एंड कॉपलिया कान, न्यूयार्क, राउल्टेज प्रकाशन, 1993 पृ. 195-200 (11). कैन सबाल्टर्न स्पीक? - गायत्री चक्रवर्ती स्पीवॉक का लेख, संकलित 'इन मार्क्सिज़म एंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ कल्चर, (सं.) कैरी नेल्सन एंड लारेंस ग्रॉसबर्ग-अरबाना एंड शिकागो : युनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनोयस प्रेस, 1988 पृ. 271-313(12). राइटिंग अ वूमन्स लाइफ़-कैरोलन जी हेलब्रन (11,16,17) (13). कंडीशंस एंड लिमिट्स ऑफ़ ऑटोबायोग्राफ़ी- ले. जार्ज गस्डोर्फ इन ओल्नी ऑटोबायोग्राफ़ी पृ. 28 (14). वूमन कांशसनेस, मेन्स वर्ल्ड-शीला रॉबाथम, लंदन, पेंगुइन प्रकाशन 1973 (15). द रिप्रोडक्शन ऑफ़ मदरिंग साइकोएनालिसिस एंड द सोशियोलॉजी ऑफ़ जेण्डर : नैंसी चोदोरोव, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, 1978 (16). ए सेलेक्शंस-जे लाकां-एक्रिटस-अनु.एलेन शेरीडन न्यूयार्क, नार्टन 197 (17). ऑटोबायोग्राफ़ी एंड साइकोएनालिसिसःबिटविन ट्रूथ एंड सेल्फ़ डिसेप्शन : एनकाउंटर 35 (अक्टूबर 1970) 28-37 बूस मैजिश तथा स्ट्रक्चरल स्टडी ऑफ़ ऑटोबायोग्राफ़ी, प्रूस्त, लिटिस, सार्त्र, लेवीस्ट्रास, कार्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस 1974 (18). वूमेन कांशसनेस, मैन्स वर्ल्ड -शीला रॉबाथम, पेंगुइन प्रकाशन लंदन 1973 (19). ब्लैक ऑटोबायोग्राफी इन अमेरिका - स्टीफेन्स बटर फ़ील्ड एमहर्स्ट यूनिवर्सिटी ऑफ़ मैसाचुसेट्स प्रेस, 1974 (20). अंकल टाम्स केबिन तथा लाइफ़ अमंग द लोवली : हैरियट बीचर स्टोव-पेंगुइन प्रकाशन,न्यूयार्क 1852 (21). एक गुलाम लड़की की जिंदगी - अनु. गगनप्रीत, 'अन्यथा' पत्रिका जून 2008 अंक पृ0 229 से 233 (22). ऑटोबायोग्राफ़िकल राइटिंग्स ऑफ़ एफ्रो, अमेरिकन वूमन-'माई स्टेच्यू माई सेल्फ़- ऐलिज़ाबेथ फ़ॉक्स-जेनोवीज़ संकलित लेख-'द प्राइवेट सेल्फ़ (23). आई वाज़ बॉर्न : स्लेव्ज़ नैरेटिव्ज़ : देयर स्टेच्यूट एज़ ऑटोबायोग्राफ़ी एण्ड एज़ लिटरेचर -न्यूयार्क, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1985 (24) 'द अदर वायसेज़ : ऑटोबायोग्राफ़ीज़ बाय वूमेन राइटर्स इन ऑटोबायोग्राफ़ी : एस्सेज़ थियोरॉटिकल एण्ड क्रिटिकल - सं. जेम्स ओल्नी, प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1980 पृ. 207-235 (25) (i) ए फेयरवेल टू सार्त्र - सीमोन द बोउवार, अंग्रेज़ी में अनुवाद पैट्रिक ओ ब्रायन, पेंगुइन प्रकाशन, 1984 सीमोन द बोउवार (ii) आल सेड एंड डन -अनु. पैट्रिक '0' ब्रायन, न्यूयार्क, वारनर प्रका. 1975 (iii) फ़ोर्स टू सरकमस्टांसेज़-वही-1972 (iv) मेमोआयर्स ऑफ़ अ ड्यूटीफुल डॉटर - सीमोन द बोउवार अनु. जेम्स किर्केप, हारपर कोलोफोन प्र., न्यूयार्क 1974 (v) द सेकेण्ड सेक्स-सीमोन द बोउवार, एच.एम. पार्सले, न्यूयार्क विंटेज, 1974 (26). साइकोएनालिसिस एण्ड सोशियोलॉजी ऑफ़ जेण्डर - बर्कले यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया,1978, पृ. 200 पर नैंसी चोदोरोव (27). वूमन ऑटोबायोग्राफ़िकल शेल्वज़ -थियरी एंड प्रैक्टिसेज़ : इन द प्राइवेट शेल्वज़ (सं) शेरी बेनस्टाक : चैपल हिल, यूनिवर्सिटी ऑफ़ नार्थ कैरोलीना प्रेस, 1989 (28) द लेटर्स ऑफ़ वर्जीनिया

वुल्फ़ -(सं) नाइगेल निकोल्सन, जॉन ट्राउट मेन 6 जिल्दों में, न्यूयार्क, हरकोर्ट ब्रास ज्वेनोविच, 1977-82 तथा, ए स्केच ऑफ़ द पास्ट-इन द मोमेंट्स ऑफ़ बीइंग सं. जीन स्कुलकाइंड, लंदन,होगार्थ प्रेस, 1976 (29) वुल्फ़ के संस्मरण 'मोमेंट्स ऑफ बीइंग शीर्षक के अंतर्गत पाँच खंडों 'रेमिनाइसेंज़' 'ए स्केच ऑफ़ द पास्ट , और मेमाआयर क्लब के लिए पढ़े गए तीन पाठ-22 हाइड पार्क गेट, ओल्ड ब्लूमस्बरी और 'एम आइ ए स्नॉब' में मिलते हैं। वुल्फ़ के उपन्यासों' टू द लाइट हाउस' और द इयर्स में भी संस्मरणात्मक सामग्री का प्रयोग मिलता है। (30) लिटरेरी डोमेस्टिसिटी एंड वूमेन राइटर्स-सब्जेक्टिविटीज़ पृ. 255 (31) ऑन क्रन्फेशन- बियोंड फेमिनिस्ट एस्थेटिक्स : रीता फ़ेल्स्की फ़ेमिनिस्ट लिटरेचर एंड सोशल चेंजः कैंब्रिज; हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1989 पृ. 86-121

सहचर्या

कला-माध्यम के तौर पर साहित्य और सिनेमा के अपने कुछ अलग-अलग तकाज़े भी होते हैं। इन तकाज़ों में कभी-कभी इतना फ़ासला होता है कि दोनों के आपसी संबंध के बारे में कोई सरलीकृत निष्कर्ष दे पाना संभव नहीं होता। हिंदी के कई गंभीर लेखक अपनी कृतियों पर बनी फ़िल्मों से खासा असंतुष्ट होते दिखे, तो कई फ़िल्मकार अपने माध्यमगत दबावों के चलते साहित्यिक कृत्तियों में किंचित् बदलाव किये जाने का औचित्य ठहराते रहे। बहरहाल, सिनेमा और साहित्य दोनों अपनी सहचर्या में जैसी रुचि अब तक बनाये रख सके, उसे अनेक बाधाओं के बावजूद रेखांकित होते रहना चाहिए।

साहित्य के सिनेमाई रूपांतरण से जुड़े कुछ प्रश्न

मानवेन्द्र प्रताप सिंह

साहित्य में सिनेमाई रूपांतरण का सर्वप्रथम जो स्वरूप तय होता है, वह नाटकों से होता है और इसका क्रमशः विकास देखने को मिलता है। इस समृद्ध परम्परा की शुरुआत 'राजा हरिश्चन्द्र' से ही देखने को मिलती है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण योगदान नाट्य संस्थाओं 'पारसी हिन्दी रंगमंच', 'भारतीय जननाट्य संघ' (इप्टा), 'पृथ्वी थियेटर यूनिट' का है। साथ ही उन समकालीन नाटककारों का भी है, जो उस समय रंगमंच से जुड़े होने के साथ-साथ फिल्मों के लिए भी प्रेरणा स्रोत रहे। उनमें आगा हश्र कश्मीरी, नारायण प्रसाद 'बेताब' और राधेश्याम कथावाचक का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। ये पारसी-हिन्दी रंगमंच के तीन स्तम्भ थे। इस दौर की फिल्मों में हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा का जमकर प्रयोग हुआ। इनमें नाटकों के संवाद हिन्दी सिनेमा के लिए मील का पत्थर साबित हुए और सैद्धान्तिक रूप से आज भी उनका प्रभाव फिल्मों में आसानी से देखा जा सकता है। चाहे वह 'राजा हरिश्चन्द्र', 'शीरी फरहाद', 'लैला मजनूं', 'यहूदी की लड़की', 'हीर रांझा', 'मुगले आजम', 'रजिया सुलतान' हो अथवा 'नीचा नगर', 'देवदास' (बरुआ), 'चित्रलेखा', 'प्यासा', या राजकपूर की फिल्में रही हों। यह अलग बात है कि वर्तमान संदर्भों में सिनेमा ने अपने आपको काफी हद तक परिष्कृत किया है लेकिन फिर भी वो सेन्स आज मौजूद है। इसका ताजा तरीन उदाहरण 'जोधा अकबर' है। अगर हम सिनेमा के शुरुआती दौर का अवलोकन करें तो पता चलता है कि तत्कालीन समय में फिल्मकार कहानी या प्लाट के लिए ज्यादा जद्दोजहद न करते हुए नाटकों के सिनेमाई रूपान्तरण पर ही निर्भर रहते थे। अगर बहुत प्रयास किया तो किसी धार्मिक विषय को कर adapt कर लिया और उस पर फिल्म बना दी।

सत्तर के दशक से फिल्मकारों की जो खेप भारतीय सिनेमा में आयी, वह अधिकांशतः रंगमंच के संस्कारों से प्रभावित थे। उनमें ऋत्विक घटक, एम.एस.सथ्यू, सागर सरहदी, के.ए.अब्बास, गोविंद निहलानी, मणिकौल आदि का नाम आसानी से लिया जा सकता है। इनमें कमोबेश सारे लोग 'इप्टा' से जुड़े हुए थे। ऋत्विक घटक का तो साहित्य से जुड़ाव ही कुछ इस कदर है कि-''अभिव्यक्ति के स्तर पर फिल्म माध्यम ज्यादा सशक्त है, यह त्वरित गति से दर्शक को अपनी चपेट में लेता है, साथ

ही यह कई कलाओं का सामूहिक रूप है अतः फिल्म करना, थिएटर करने के साथ-साथ, साहित्य की भाँति फिल्म लिखना भी है अथवा संगीतकार की भांति 'फिल्म गाना' अथवा बजाना भी है।''[1] नब्बे के दशक के बाद जिसे समकालीन की संज्ञा दी गयी है, का यदि हम विश्लेषण करें तो भारतीय सिनेमा में बुद्धदेव दास गुप्ता, कुमार सहानी, गौतम घोष, अडूरगोपाल कृष्णन, सई परांजपे, गिरीश कर्नाड, श्याम बेनेगल, अर्जुन सजनानी, अनिल शर्मा, डॉ. चन्द्र प्रकाश द्विवेदी, विशाल भारद्वाज, अनुराग कश्यप और प्रकाश झा जैसे फिल्मकारों ने रंगमंच के संस्कारों से समृद्ध सिनेमा को एक नयी परिभाषा दी है। इन फिल्मकारों में सिनेमा के प्रति जो गम्भीरता नजर आती है, निश्चय ही वह सिनेमा के लिए एक अच्छा संकेत है। इन फिल्मकारों के साथ-साथ रंगमंच ने अनगिनत कलाकारों का भी सर्जन किया है। रंगमंच से आए कलाकारों ने सिनेमा मे ंअपनी महत्वपूर्ण और गम्भीर छवि को स्थापित किया है।

साहित्य और सिनेमा का सन्दर्भ इसके बाद सीधे उपन्यास और कहानियों से जुड़ता है। इस कड़ी में सबसे महत्वपूर्ण नाम हमारे समक्ष सत्यजीत राय का है। उनकी फिल्मों की लम्बी शृंखला पर यदि हम दृष्टिपात करें, तो भारतीय सिनेमा में साहित्य के सिनेमाई रूपांतरण की सबसे समृद्ध परम्परा हमें वहीं देखने को मिलती है। उन्होंने विभूति भूषण बंद्योपाध्याय के उपन्यासों पर अप्पूत्रयी के नाम से 'पथेर पांचाली'(1955), 'अपराजितो'(1956), 'अपूर संसार'(1959), ताराशंकर बंधोपाध्याय के उपन्यासों व कहानियों पर 'अभियान'(1962), 'जलसाघर'(1958), शंकर के उपन्यासों पर 'सीमाबद्ध'(1917) 'जनअरण्य'(1975), सुनील गंगोपाध्याय के उपन्यासों पर 'अरण्येर दिन रात्रि'(1969) 'प्रतिद्वन्द्वी'(1970), रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियों पर 'तीन कन्या'(1961), 'चारुलता'(1964), 'घरे बाइरे'(1984) और प्रेमचन्द की कहानियों पर 'शतरंज के खिलाड़ी'(1977), 'सद्गति'(1981) जैसी गम्भीर फिल्में भारतीय सिनेमा को उपहार स्वरूप दीं। उनके सिनेमा को भारत ने ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व ने देखा और सराहा। इसी प्रकार शरत्चंद्र की कृतियों पर कई भारतीय भाषाओं में अनेकों फिल्में बनीं, यही स्थिति बंकिमचन्द्र चटर्जी के कृतियों की रही।

बांग्ला में सत्यजीत राय जैसे सिने-कलाकार और चिंतक के यहाँ इतनी विविधता और उत्कृष्टता के साथ साहित्यिक सिनेमा का जो कलेवर मौजूद है, वैसा हिन्दी सिनेमा में हमें इसके विशाल फलक पर कहीं भी देखने को मयस्सर नहीं होता। हिन्दी सिनेमा में साहित्य के सन्दर्भगत रिश्तों में वह गम्भीरता क्यों नहीं आ पायी? यह विमर्श का विषय है। सन् 1934 में प्रेमचन्द फिल्मों में आए। उन्होंने अपनी पहली फिल्म के रूप में मोहन भगनानी की 'मजदूर' फिल्म की कहानी और संवाद लिखे। तत्पश्चात नानू भाई वकील ने उनके उपन्यास 'सेवा सदन' पर इसी नाम से फिल्म बनायी। लेकिन दुर्भाग्यवश दोनों फिल्में असफल हुई। इसके बाद प्रेमचन्द फिल्म जगत के जीवन-मूल्यों और शर्तों को अलविदा कहकर मुम्बई से वापस आ गये। लगभग यही स्थिति भगवती चरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, वृंदावनलाल वर्मा, धर्मवीर भारती, अमृतलाल नागर, राही मासूम रजा इत्यादि की भी रही। प्रेमचन्द 'सिनेमा और जीवन' में लिखते हैं कि—''हिन्दी के कई साहित्यकारों ने सिनेमा पर निशाने लगाए, लेकिन शायद ही किसी ने मछली बेध पाई हो। फिर गले में जयमाल कैसे पड़ती? आज भी पण्डित नारायण प्रसाद 'बेताब', मुंशी गौरीशंकर लाल अख्तर, श्री हरिकृष्ण प्रेमी, मि. जमनाप्रसाद कश्यप,

मि. चंद्रिकाप्रसाद श्रीवास्तव, डॉ. धनीराम प्रेम, सेठ गोविंददास, पण्डित द्वारका प्रसाद मिश्र आदि सिनेमा की उपासना करने में लगे हुए हैं। देखना चाहिए, सिनेमा इन्हें बदल देता है या ये सिनेमा की कायापलट कर देते हैं।''[2] प्रेमचन्द की यह टिप्पणी काफी महत्वपूर्ण है। उन्होंने सिनेमा से साहित्य के अन्तर्सम्बन्धों के सन्दर्भ में अपनी चिंता व्यक्त करते हुए आगे लिखा है कि-''साहित्य हमारी सुन्दर भावना को स्पर्श करके हमें मतवाला बनाता है और इसकी दवा प्रोड्यूसर के पास नहीं। जब तक एक चीज की मांग है, वह बाजार में आएगी। कोई उसे रोक नहीं सकता। अभी वह जमाना बहुत दूर है जब सिनेमा और साहित्य का रूप एक होगा। लोक-रुचि जब इतनी परिष्कृत हो जाएगी कि वह नीचे ले जाने वाली चीजों से घृणा करेगी, तभी सिनेमा में साहित्य की सुरुचि दिखाई पड़ सकती है।''[3] प्रेमचन्द की यह भविष्यवाणी आज के सन्दर्भों में कमोबेश सच साबित होती है। समकालीन सिनेमा में चंद कुछ ऐसे सिनेमादां हैं, जो पर्दे पर साहित्य का सृजन कर रहे हैं और समाज का यथार्थवादी प्रतिबिम्ब प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ ही सिनेमा में लोक-संस्कृति के घटकों द्वारा सिनेमा के स्वाद को बदलने की लगातार कोशिश में अग्रसर हैं।

बांग्ला सिनेमा की भाँति हिन्दी सिनेमा साहित्य से गहराई से अपना जुड़ाव क्यों नहीं महसूस कर पास रहा है? आखिर क्या कारण है कि एक साहित्यकार अपने कृति के सिनेमाई रूपांतरण से संतुष्ट नहीं हो पाता। साहित्यिक कृतियों के फिल्मांतरण को दर्शक क्यों एक स्वतंत्र कृति के रूप में न देखकर उसमें मूल कथ्य (कृति के) और 'सार' की तलाश करता रहता है? ये कुछ ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिनके आलोक में हम साहित्य और सिनेमा के बेहतर सम्बन्धों के सन्दर्भ में जाँच पड़ताल करेंगे। साहित्य के सिनेमाई रूपांतरण में जमीनी स्तर पर एक फिल्मकार के सामने निम्नांकित समस्याएं आती हैं-

1. कथा से पटकथा परिवर्तन की समस्या।
2. मूल कथ्य के संरक्षण की समस्या।
3. कृति की पुनर्रचना, रूपांतरण या महज आलोचनात्मक प्रस्तुति।
4. समसामयिकता व परिवेश के फिल्मांकन की समस्या।
5. बाजार की समस्या (दबाव के रूप में)।

भारतीय सिनेमा का यह जो समकालीन दौर चल रहा है, इसमें फिल्मकार पूरे तरीके से व्यावसायिक ढाँचे के अन्दर उत्पाद और उपभोक्ता के बरक्स पूंजी की गिरफ्त में आ चुका है। इसका अंदाजा हम बड़ी संख्या में बन रही मसाला फिल्मों से लगा सकते हैं, जिन्हें तथाकथित लोकप्रिय सिनेमा की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। आज गंभीर विषयों और वैचारिक गम्भीरता लिये हुए सिनेमा का जैसे अकाल सा पड़ गया है। इसका प्रमुख कारण हैं, फिल्मकारों का अपनी संस्कृति से विलग होना और संस्कारगत जीवन मूल्यों व आत्मगत नैतिकता का अभाव। अपसंस्कृति के इस दौर में अगर कोई गंभीर सिनेमा बनाने का जोखिम उठाता है, तो उसे इसका खामियाजा भी भुगतना पड़ता है। ऐसे समय में यदि कोई फिल्मकार किसी साहित्यिक विधा पर आधारित कृति के सिनेमाई रूपांतरण के बारे में सोचता है तो जाहिर है कि साहित्य से उसका गहरा रिश्ता होगा और गंभीर समझ होगी। उस प्रक्रिया

में फिल्मकार के सामने सबसे पहली समस्या यह होती है कि कथा को पटकथा में कैसे परिवर्तित किया जाय? उसके सामने यह सवाल खड़ा होता है कि कथा की 'आत्मा' को क्या दर्शक तक वह पहुँचा पाएगा और दर्शक उसे सहज रूप में स्वीकार करेंगे अथवा नहीं। क्योंकि वर्तमान समय में जहाँ सूचना क्रांति ने हमें इन्टरनेट और मोबाइल का उपहार दिया, वहीं हमसे साहित्य पढ़ने के संस्कार भी छीने। इसे जबरीमल्ल पारख के वक्तव्य से समझें तो बात ज्यादा तर्कसंगत होगी-''वस्तुतः ये दोनों माध्यम पूर्णतः स्वतंत्र हैं और साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाना फिल्मकार की व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर करता है। यह अवश्य है कि दूरदर्शन के व्यापक प्रसार ने मनोरंजक कार्यक्रमों की जरूरत का जो दबाव पैदा किया है, उससे प्रेरित होकर कई धारावाहिक निर्माता साहित्यिक रचनाओं पर धारावाहिक और फिल्में बनाना अधिक आसान कार्य समझते हैं। यहाँ साहित्य के प्रति उनका वास्तविक अनुराग उतना नहीं, जितना बाजार का दबाव।''[4]

हमारे सामने कई ऐसे उदाहरण हैं, जो बतौर फिल्म अपना कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़ पाए। मसलन प्रेमचन्द के उपन्यासों व कहानियों पर आधारित 'गोदान' (त्रिलोक जेटली)', 'गबन' (कृष्ण चोपड़ा और ऋषिकेष मुखर्जी), 'हीरामोती' (कृष्ण चोपड़ा), मोहन राकेश के नाटक पर आधारित 'बदनाम बस्ती' (प्रेम कपूर) 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' (प्रेम कपूर), 'फिर भी' (शिवेन्द्र सिन्हा), मन्नू भण्डारी के उपन्यास पर आधारित 'आपका बंटी' (शिशिर मिश्रा), भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास पर आधारित 'चित्रलेखा' (केदार शर्मा) और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी पर आधारित 'उसने कहा था' (मोनी भट्टाचार्य)।

सिनेमा में कुछ फिल्मकार और सिने चिंतक पटकथा को साहित्य और उसकी सैद्धान्तिकी से एकदम अलग रखना चाहते हैं। उनका विचार है कि साहित्य की प्रयोजनीयता उसके पाठ और वैचारिकी से जुड़ती है, न कि फिल्मों में हम उसे तलाशें। ये फिल्म को एक स्वतंत्र कृति के तौर पर देखने के हिमायती हैं। किसी पाश्चात्य चिंतक का मानना है कि—'फिल्म को उपन्यास की तरह पढ़ा जाना चाहिए और उपन्यास को फिल्म की तरह देखा जाना चाहिए।' इससे स्पष्ट होता है कि सिनेमा अपने रसास्वादन हेतु गम्भीर दृष्टिबोध की माँग करता है, बशर्ते उसमें भी वह बात हो। सिनेमा तभी अपने अन्दर समायोजित संश्लिष्ट अर्थ का रेखांकन करने में समर्थ होगा। रूसी फिल्मकार आंद्रेई तारकोवस्की मानते हैं कि फिल्मकार का सृजन-संसार, विचारों और जीवन का दस्तावेज है। साथ ही तारकोवस्की पटकथा की साहित्यिकता पर विचार करते हुए लिखते हैं कि-''मैं पटकथा को साहित्यिक शैली (जेनर) नहीं मानता। दरअसल, पटकथा जितनी अधिक चलचित्रमय होगी, वह अपने ही पक्ष को मजबूत करती हुई साहित्यिक महत्ता के दावे को न्यूनतम करती जाएगी, ठीक उसी तरह जैसे नाटक की स्क्रिप्ट प्रायः करती है। फिर व्यावहारिक तौर पर कोई पटकथा साहित्य के स्तर तक कभी नहीं पहुँच सकती।''[5]

साहित्यिक कृति के सिनेमाई रूपांतरण में तब एक और समस्या खड़ी हो जाती है, जब किसी पात्र के अंतरगुम्फित मन की हलचलों को फिल्मांकन के माध्यम से दिखाना होता है क्योंकि एक उपन्यासकार इसे अपने विभिन्न विवरणों के माध्यम से कई पन्ने रंग कर आसानी से दिखा सकता है। लेकिन एक फिल्मकार किसी पात्र के मन के अन्दर चल रही चेतनता को पर्दे पर कैसे दिखाएगा।

फिल्मकार इसे बहुत करेगा तो कई विभिन्न स्थितियों को कोलॉज के माध्यम से पर्दे पर दिखा सकता है, लेकिन इससे वह सहजता और जीवतंता तो आ नहीं पाएगी। मसलन 'देवदास' में शरत् बाबू दिखाते हैं कि देव कलकत्ता से पहली बार लौटा है। पारो की दादी ने दोनों की शादी की बात देव की माँ से चलाई है, लेकिन वहाँ से उत्तर नकारात्मक ही मिलता है। इस सारी परिस्थिति का पारो पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसकी व्याख्या करते हुए शरत्चन्द्र लिखते हैं कि—''पार्वती बराबर अभिमानिनी है। वह जो दुःख सह रही है उसका घुनाक्षर कोई न समझे इसकी वह तन-मन से चेष्टा करती है। वैसे किसी को बताने से फायदा ही क्या होगा? सहानुभूति सही न जाएगी और तिरस्कार-लांक्षना अलग मिलेगी।''[6] फिल्म में अब इस दृश्य को निर्देशक कैसे दिखाए? या तो वह इस सिनेरिओ को दिखाने का मोह छोड़ दे अथवा कोलॉज के माध्यम से इस चित्र को दिखाए।

फिल्मकार के सामने कई बार चयन की समस्या भी होती है कि वह उपन्यास के किस भाग पर फोकस करे और किस पर नहीं। क्योंकि वह पूरे उपन्यास का फिल्मांकन तो दो घण्टे की अवधि में कर नहीं सकता। फलस्वरूप कई बार उपन्यास की मुख्य बातें छूट जाती हैं, कारण यह कि उपन्यास से फिल्मांकन के दृश्यों का चयन या तो पटकथाकार का होता है या तो निर्देशक का। पूरी तरीके से यह मसला वैयक्तिक और स्वयं की पसन्द से जुड़ा होता है। यहाँ तारकोवस्की के इस वक्तव्य पर ध्यान दें, तो बात ज्यादा तर्कसंगत होगी-''अगर दृश्य विधान फिल्म की विस्तृत योजना को दर्शाने वाला ही हो, यानि अगर वह सिर्फ यही बताये क्या फिल्मांकित किया जाना है और कैसे किया जाना है तब तो हमारे पास पूरी बन चुकी फिल्म की पूर्वाभासी प्रतिलिपि जैसी कोई चीज होगी, जिसका साहित्य से कतई सम्बन्ध नहीं। मूल संस्करण को फिल्मांकन के दौरान जैसे ही रूपांतरित कर लिया गया वैसे ही वह अपनी संरचना खो देता है।''[7]

साहित्य पर आधारित फिल्मों में निर्देशक कई बार मूलकृति का केवल इस्तेमाल करता है, उससे चीजें उधार लेने के लिए मसलन-अनुराग कश्यप स्वीकार करते हैं कि उन्होंने 'देव डी' के निर्माण में उपन्यास से केवल कथ्य (content) उधार लिया। बाकी उसका और कोई उपयोग नहीं था उनके लिए। इसका कारण उन्होंने बताते हुए कहा कि वे उसमें बँधना नहीं चाहते थे, क्योंकि अगर वे बँध जाते, तो वह जो दिखाना या कहना चाहते थे, वह कहीं पीछे छूट जाता और उपन्यास हावी हो जाता। इस प्रकार ये कुछ चंद ऐसे सवाल हैं, जिनसे साहित्यिक कृति के फिल्मांकन के दौरान प्रत्येक फिल्मकार को रूबरू होना पड़ता है। अब यह उन पर निर्भर करता है कि इनसे कैसे निजात पाते हैं।

साहित्य और सिनेमा के बीच सम्बन्ध एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। देखना होता है कि इसमें संवाद कहाँ तक हो रहा है और यदि हो रहा है, तो यह स्वस्थ और सार्थक है कि नहीं। समकालीन संदर्भों की अगर हम बात करें, तो यह लगभग न के बराबर है, इसमें स्वस्थ और सार्थकता का प्रश्न ही बेमानी है। बहरहाल आज जो भी चंद फिल्मकार साहित्य और सिनेमा को एक सूत्र में पिरोने की कोशिश कर रहे हैं, वे सराहना के पात्र हैं। यह अलग मसला है कि वे इस कार्य को बखूबी अंजाम देने में कहाँ तक सफल हो पाते हैं। साहित्य के सिनेमाई रूपांतरण से जुड़ा दूसरा जो सबसे महत्वपूर्ण पहलू है, वह यह कि निर्देशक फिल्म बनाते समय मूलकृति के संदर्भ (ण्दर्ह्लू) और कथ्य (ण्दहूाहू)

की अक्षुणता को कहाँ तक आत्मसात कर पाया है। ण्दर्ह्लू के अंतर्गत निर्देशक जिस दृश्य का फिल्मांकन कर रहा है,क्या उसके उद्देश्य ऊ्लू के सापेक्ष हैं और उन परिस्थितियों को उद्घाटित करने में सफल हुए हैं, जिनका उल्लेख उपन्यास में किया गया है। मसलन-जे. पी. दत्ता कृत 'उमराव जान' और मिर्जा हादी रूस्वा कृत 'उमराव जान' का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो बात स्वतः स्पष्ट हो जायेगी। जे. पी. दत्ता उपन्यास के ण्दर्ह्लू और ण्दहूाहू को पकड़ने में असफल साबित हुए हैं। बातों की इस शृंखला में यदि मोनाको जेम्स की टिप्पणी पर ध्यान दें तो मंतव्य स्पष्ट होगा- "The driving tension of the novel is the relationship between the materials of the story (plot, charector, setting, theme and so forth) and the narration of it in language, between the tale and the teller in other words. The driving tension of the film on the other hand is between materials of the story and the objective nature of image, as if the author director of a film were in continual conflict with the scene he is shooting"[8] साहित्यकारों द्वारा फिल्मकारों पर अक्सर यह आरोप लगाये जाते रहे हैं कि उन्होंने कृति के साथ न्याय नहीं किया। मसलन राजेन्द्र यादव के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'सारा आकाश' (बासु चटर्जी) और मोहन राकेश की कहानी पर आधारित फिल्म 'उसकी रोटी' (मणिकौल) का नाम लिया जा सकता है। यहाँ मजे की बात यह है कि ये आरोप स्वयं साहित्यकारों द्वारा नहीं लगाये गये बल्कि दर्शकों ने इस पर प्रतिक्रिया स्परूप प्रश्न उठाये। यही स्थिति कमोबेश महाश्वेता देवी की कहानी पर आधारित फिल्म 'रूदाली' (कल्पना लाजमी) की रही। महाश्वेता देवी से खासा विवाद हुआ इस फिल्म को लेकर। उनका मानना था कि फिल्म कहानी की संवेदना को नहीं पकड़ पायी है। यह दीगर बात है कि फिल्म जबर्दस्त हिट हुई।

भारतीय सिनेमा में यह शोचनीय प्रश्न है कि हम किसी कृति पर बनी फिल्मों को उन्हें स्वतंत्र कृति की तरह क्यों नहीं स्वीकार कर पाते हैं? हम क्यों उसमें कथ्य की प्रामाणिकता, अर्थ की गम्भीरता और परिवेश की जीवंतता ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं? यह तो ठीक वही बात हुई, जैसे साहित्य के आचार्यों और पण्डितों द्वारा 'पृथ्वीराज रासो' (चन्दबरदायी) की ऐतिहासिकता का प्रमाण आज भी ढूंढ़ा जा रहा है, जबकि वह महज एक कलात्मक कृति मात्र है। फिल्म और साहित्य के रिश्तों में कड़वाहट की यह सबसे जटिल समस्या है। जो सिनेमा के शुरुआती दौर से आज तक बरकरार है। विनोददास इस सन्दर्भ में लिखते हैं कि-''किसी साहित्यिक कृति में वर्णित दृश्य-सा चरित्र को पढ़ना और उसे परदे पर देखना जहाँ अलग-अलग अनुभव हैं, वहीं लेखन और फिल्मांकन का तौर तरीका भी अलग-अलग होता है। इस फर्क को समझने के लिए साहित्य और सिनेमा के विधागत स्वभाव के अंतर को ध्यान में रखना होगा। इन दोनों विधाओं में सबसे महत्वपूर्ण अंतर समय के साथ इनके रिश्ते से हैं।''[9]

भारतीय सिनेमा के इतिहास में अभी तक जिन साहित्यिक विधाओं पर आधारित फिल्में बनी हैं, उनमें अधिकांशतः अपने समय की कालजयी कृतियाँ रही हैं। फिल्मकारों के मन में हमेशा उस कृति के प्रति यह मोह बना रहता है कि वह एक प्रसिद्ध कृति का फिल्मांकन कर रहा है, जिससे दर्शक उसे सहजता से स्वीकार कर सकेंगे। फिल्मकारों के साथ समस्या यह होती है कि वे उपन्यास के भाषायी वैशिष्ट्य और प्रासंगिकता को कमोबेश समझने में अपनी शर्तों पर समझौता नहीं करना चाहते। इस

सन्दर्भ में उनके लिये यह जानना जरूरी हो जाता है कि-''जब फिल्म देखते हैं तो दृश्य भी शब्दों और ध्वनियों के साथ जुड़कर ही फिल्म का अर्थ तय करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक माध्यम की अपनी अलग भाषा होती है और एक माध्यम की भाषा से दूसरे माध्यम की भाषा में रूपांतरण उसी भाषा के व्याकरण की शर्तों पर ही हो सकता है।''[10]

फिल्मों में कई बार निर्देशक कृति से विपरीत अन्य चीजों का भी फिल्मांकन कर डालते हैं, अपनी कल्पना और क्रियाशीलता के आधार पर। कई बार वे दृश्य फिल्म को जीवंत कर देते हैं और कई बार फिल्म में झोल भी पैदा कर देते हैं। जैसे संजय लीला भंसाली कृत 'देवदास' की अगर हम बात करें, तो उसमें देव के लंदन से लौटने का दृश्य है, पारो दस साल से दीपक जलाकर देव के आने का इंतजार करती है। साथ ही पारो को एक भौंरा परेशान करता है जिसे वह कपड़े से उड़ाती है। यह दोनों उपन्यास में नहीं है। लेकिन भंसाली ने इसे कलात्मक ढंग से फिल्माकर प्रासंगिक बना दिया है।

फिल्म निर्माण के दौरान यदि कोई फिल्मकार किसी साहित्यिक कृति का चुनाव करता है, तो उसके सामने सबसे पहला प्रश्न उठता है कि वह उक्त कृति/रचना पर फिल्म क्यों बना रहा है? उस कृति की ऐसी कौन सी चीज थी, जिसने उसे फिल्म बनाने पर मजबूर किया? रचना कृति के कण्टेन्ट अथवा 'एसेंस' ने उसे प्रभावित किया या दोनों ने ही। दूसरी बड़ी समस्या यह होती है कि उसे यह भी निर्धारित करना होता है कि फिल्म में वह रचना को किस रूप में प्रस्तुत करेगा? मसलन क्या वह कृति/रचना का हूबहू रूपांतरण (विमल राय-'देवदास') करना चाहता है या फिल्मांतरण के तौर पर कृति/रचना का पुनर्पाठ करना चाहता है। या कृति/रचना को रूपांतरण के दौरान आलोचनात्मक सन्दर्भों में प्रस्तुत करना चाहता हैं। यहाँ हम जबरीमल्ल पारख की टिप्पणी से बात की गम्भीरता को पहचान सकते हैं—''रूपांतरण करते हुए फिल्मकार मूल रचना में से किस चीज को अक्षुण्ण रखता है—कथानक को या उसमें निहित विचार को? एक ही रचना 'देवदास' पर आधारित होकर भी क्या ये सभी फिल्में एक दूसरे से भिन्न हैं या एक-सी? यदि वे एक सी हैं तो फिर दोहराव किसलि? और भिन्नता है तो यह भिन्नता रचना से आ रही है या फिल्मकार द्वारा आरोपित है? प्रश्न यह भी है कि एक अत्यंत लोकप्रिय रचना जिसे उपन्यास के रूप में भी काफी पढ़ा गया है, उसके फिल्मांतरण को दर्शक क्यों देखना चाहते हैं?''[11]

साहित्य पर आधारित कोई भी फिल्म जब दर्शक के सामने होती है, तो वह विशेष हो उठती है, क्योंकि दर्शक उसके बारे में पहले से जानता है। वह उसके आंतरिक द्वंद्व, विरोधाभास और अंतर्विरोधों की भली प्रकार व्याख्या कर सकने में समर्थ होता है। कई बार ऐसा भी होता है कि एक पाठक जब उस फिल्म को देखता है, जिसे वह उन छपे हुए शब्दों के रूप में पढ़ चुका होता है, तो वह कृति के पाठ के समय रचनाकार के बरक्स अपनी एक समानान्तर दुनिया (कल्पनाश्रित) बसा लेता है। इसके बाद जब वह पर्दे पर उसी फिल्म को देखता है, तो सिनेमाई तकनीकी पहलुओं और कलात्मक फिल्मांकन की वजह से उन पात्रों या घटनाओं की जो मूर्त और जीवंत दुनिया उसे दिखायी देती है, उसमें वह दो या ढाई घण्टे के नीम अंधेरे में डूबकर हिप्नोटाइज हो जाता है, साथ ही अपनी उस समानान्तर दुनिया को भी भूल जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह उस में बँधकर रह जाता है

और जब बाहर निकलता है, तो उसे सोचने व समझने का मौका मिलता है। फलस्वरूप वह फिल्म को कृति/रचना के बरक्स रखकर उसकी समीक्षा या आलोचना करता है। इस संदर्भ में भागवत एस. गोयल लिखते हैं कि—"The time element plays a significant role in the relative enjoyment, appreciation and critical evaluation of film and literature. While the duration of a film generally close not exceed two hours the reading of a novel may take several hours. Moreover the image film passes before the viewers' eyes only once, geving him little time for reflection. But a book can be read again and again, in parts or whole according to the readers convenience"[12] इन सारी बातों का निचोड़ यह है कि किसी कृति के फिल्मांतरण के समय अतिकलात्मक फिल्मांकन से फिल्मकार को बचना चाहिए, जिससे कृति/रचना का बेलौसपन और रोमानियत बरकरार रहे। मसलन संजय लीला भंसाली कृत 'देवदास' की अगर हम बात करें, तो उसमें दर्शकों को एक अत्यंत चमक-दमक वाली अतिनाटकीय कहानी देखने को मिली, लेकिन मूल 'देवदास' देखने से वे वंचित रह गये।

फिल्मकारों के सामने अक्सर यह भी समस्या होती है कि वह किसी कृति का चुनाव यदि फ़िल्म बनाने के लिए करता है, तो उसे रचनाकार की इजाजत लेनी पड़ती है क्योंकि copyright तो रचनाकार या लेखक के पास ही होता है और यह 50 साल बाद खत्म होता है। कई बार लेखक/रचनाकार उस पर फिल्म बनाने की अनुमति देने से इंकार करते हैं। उन्हें डर होता है कि फिल्मकार उनकी कृति/रचना के साथ छेड़छाड़ करेंगे और कृति का जाने क्या हश्र करेंगे। क्योंकि हम जानते हैं कि किसी कृति/रचना में कल्पना के लिए जहाँ अनन्त संभावनाएं होती हैं वहीं फिल्म इसे एक निश्चित समय और स्वरूप में समायोजित कर सीमित कर देती है। मसलन— गेब्रिएल गार्सिया मारखेज ने अपने उपन्यास 'अकेलेपन के सौ वर्ष' पर फिल्म बनाने की अनुमति देने से इंकार कर दिया था, जबकि इसके बदले फिल्मकार उन्हें एक बड़ी रकम देने के लिए तैयार था। इसके जवाब में मारखेज ने लिखा है कि''—इस उपन्यास को फिल्म में रूपांतरित करने के खिलाफ मैं इसलिए हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अकेलेपन के सौ वर्ष के चरित्रों के बारे में अपनी राय कायम करे। यदि कोई पाठक उर्सूला को दादी के रूप में देखे और दूसरा उसे अपनी बहन के रूप में, तो यह मुझे अधिक अच्छा लगेगा। हर पाठक किताब पढ़ते समय चरित्रों के बारे में अपनी छवि बनाता है, जबकि पर्दे पर एक चरित्र का एक ही चेहरा होता है। मैं गलत हो सकता हूँ, लेकिन यह लोगों को निराशा कर सकता है। मैं अपने पाठकों को ऐसी निराशा नहीं देना चाहता।''[13]

साहित्य पर आधारित फिल्मों के साथ कई बार ऐसा भी होता है कि फिल्मकार जब किसी कृति/रचना का चुनाव फिल्मांतरण के लिए करता है, तो उस समय वह कृति उतनी महान या ख्यातिलब्ध नहीं होती और जब फिल्मकार उसे पर्दे पर चित्रित करता है तो वह उस कृति को दुबारा जिन्दा कर देता है। सिनेमा के अतीत पर यदि हम नजर डालें तो ऐसी तमाम फिल्मों/कृतियों के उदाहरण हमें आसानी से देखने को मिल जायेंगे। मसलन—इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण है, डैनी बोएल कृत 'स्लमडॉग मिलिनेयर'। विकास स्वरूप के उपन्यास 'क्यू एंड ए' पर आधारित है यह फिल्म। विकास स्वरूप को

इस फिल्म के पहले कितने लोग जानते थे? भीष्म साहनी के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'तमस' (गोविन्द निहलानी), मन्नू भण्डारी की कहानी 'यही सच है' पर आधारित फिल्म 'रजनीगंधा', मिर्जा रूस्वा के उपन्यास पर आधारित 'उमराव जान' जैसी फिल्में पर्दे पर रची जाने के बाद प्रसिद्ध हुई। कमोबेश यही स्थिति शरत्चन्द्र के उपन्यास पर आधारित 'देवदास' फिल्म की भी रही। फिल्मकार के सामने समस्या तब उत्पन्न होती है— यदि फिल्म सफल हो गई, तो बहुत अच्छा और यदि ठीक नहीं बन पाई, तो इसकी सारी जिम्मेदारी फिल्मकार की हो जाती है। फिल्म के सफल होने पर उस समय यह भी विवाद खड़ा होने की संभावना होती है कि फिल्म उत्कृष्ट है अथवा कृति/रचना। इस सन्दर्भ में भागवत.एस.गोयल लिखते हैं कि— "Some writers and critics have raised the bogey of the superiority of film or literature or vice versa. Film and literature being distinct arts in their own right, the question of superiority of one over the other is irrelevant and uncalled."[14]

फिल्मकारों के सामने उपन्यासों या छोटी कहानियों के सिनेमाई रूपांतरण के दौरान एक और समस्या तब उत्पन्न होती है, तब वह सात सौ-आठ सौ पेज के लम्बे उपन्यास को फिल्मांकन के लिए माध्यम बनाता है। अब वह इतने लम्बे उपन्यास को फिल्म में तो ढाल नहीं सकता। इसलिए वह उसमें से 5 या 6 घटनाओं को फिल्म के केन्द्र में रखता है और कहानी उन्हीं के इर्द-गिर्द रचने की कोशिश करता है। कई बार फिल्मकार इन घटनाओं को ही साहित्यिक 'सारतत्त्व' के साथ इतनी खूबसूरती से फिल्मांकित करते हैं कि वह रचना उस फिल्म में जीवंत हो उठती है। अक्सर ऐसा भी होता है कि फिल्मकार इसमें असफल भी साबित होते हैं। यह विवाद का विषय नहीं होना चाहिए। इस संदर्भ में Dudley Andrew ने विषय की गम्भीरता को व्याख्यायित करते हुए लिखा है कि - "A cold hard fact a reality to be accepted as it stands. One must not attempt to adapt it to the situation in hand, or manipulate it to fit some passing need for an explanation, on the contrary it is something to be taken absolutely as it stands"[15] इस प्रकार यदि फिल्मकार और रचनाकार इन छोटे-छोटे सवालों पर ध्यान दें, तो साहित्य और सिनेमा के शुरुआती रिश्तों को फिर से बेहतर बनाया जा सकता है।

साहित्यिक कृतियों के फिल्मांकन के समय निर्देशक के समक्ष एक बड़ी समस्या तब खड़ी हो जाती है, जब वह किसी पाश्चात्य कृति/रचना का चुनाव करता है। मान लीजिए किसी फिल्मकार ने शेक्सपीयर, टाल्सटॉय, अथवा हेमिंग्वे की किसी रचना/कृति को फिल्मांतरण का माध्यम बनाया है तो भारतीय सन्दर्भों में वह कैसे रूस, जापान या इंग्लैण्ड के समाज को दिखा सकता है। उसे या तो उस समाज की बखूबी जानकारी हो अथवा वह उस कृति के एक-एक पहलू का उन सामाजिक सन्दर्भों में गम्भीरतापूर्वक शोध करे और तब उसका फिल्मांकन करे। साथ ही उसे भारतीय परिप्रेक्ष्य में ऐसे परिवर्तित-रूपांतरित करे, जिससे भारतीय दर्शक उस समाज और परिवेश को सहजता से स्वीकार कर सके। यही बात भारतीय साहित्य के अन्य भाषायी सन्दर्भों पर भी लागू होती है। हम देखते हैं कि अन्य भाषाओं के फिल्मकार हिन्दी में फिल्में बनाने के लिए कटिबद्ध हैं क्योंकि हिन्दी फिल्मों का दर्शक एक

बड़ा वर्ग है। कोई फिल्मकार किसी अन्य भारतीय भाषा, मसलन बांग्ला, पंजाबी, तेलगु या मराठी की किसी साहित्यिक कृति पर फिल्म बनाना चाहता है, तो उसे उस प्रदेश अथवा भाषायी समाज की नब्ज को गहराई से पकड़ना होगा। इस संदर्भ में अभी हाल ही में फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान, पूना द्वारा आयोजित सेमिनार 'साहित्य और सिनेमा : माध्यम रूपांतरण के प्रश्न' में प्रियंवद ने देव डी के संदर्भ में सवाल करते हुए कहा कि-''अगर फिल्म में कलकत्ता के वातावरण को दिखाना है, तो उसे पहाड़गंज में कैसे दिखाएंगे।''[16]

साहित्यिक फिल्मों के रूपांतरण में दूसरी समस्या तब खड़ी होती है, जब फिल्मकार ऐतिहासिक विषयों को अपनी फिल्म का माध्यम बनाता है। ऐसी स्थिति में फिल्मकार के लिए ऐतिहासिक घटनाओं की समझ, परिदृश्य की विराटता का अंकन और यथार्थवादी भावों के विश्लेषण की बखूबी जानकारी अनिवार्य हो जाती है। यहाँ हम सत्यजीत राय कृत 'शतरंज के खिलाड़ी' (प्रेमचंद) का उल्लेख करें तो बात स्पष्ट होगी। सत्यजीत राय हिन्दी साहित्य और समाज से अपरिचित थे, लेकिन उनकी फिल्म की बुनावट–रचावट और ऐतिहासिक सन्दर्भों की अतियथार्थवादी प्रस्तुति उनकी शोधपरक दृष्टि को खुद ही बयां करती है। इसी श्रृंखला में फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम' पर आधारित फिल्म 'तीसरी कसम' (बासु भट्टाचार्य) और महाश्वेता देवी की कहानी पर आधारित फिल्म 'रूदाली' का नाम ले सकते हैं। यहाँ पहले हम रेणु की कृति पर बनी फिल्म का अवलोकन करें, तो वह मूलतः पूर्णिया (बिहार राज्य का एक जिला) के ग्रामीण अंचल की कहानी है, जिसके एक ओर नेपाल, दूसरी ओर पाकिस्तान और पश्चिम बंगाल है। कहानी के प्रारंभ में ही रेणु इसकी सूचना देते हुए लिखते हैं कि-''हिरामन गाड़ीवान की पीठ में गुदगुदी लगती है...पिछले बीस साल से गाड़ी हांकता है हिरामन। बैलगाड़ी सीमा के उस पार मोरंगराज नेपाल से धान और लकड़ी ढो चुका है। कंट्रोल के जमाने में चोर बाजारी का माल इस पार से उस पार पहुँचाया है। लेकिन कभी तो ऐसी गुदगुदी नहीं लगी पीठ में.....'[17]

रेणु इसके तुरन्त बाद फारबिसगंज का विवरण देते चलते हैं। यहाँ इस छोटी सी पड़ताल का मंतव्य सिर्फ इतना है कि फिल्मकार को ऐसे सारे विवरण की जांच पड़ताल वास्तविक अर्थों में करनी पड़ेगी। साथ ही हिरामन के मनोविज्ञान को समझना पड़ेगा। तभी वह कृति का यथार्थवादी मूल्यांकन फिल्म में प्रस्तुत कर सकेगा। बहरहाल 'तीसरी कसम' अपने समय की अत्यंत सफल फिल्मों में से एक है और आज भी इसके गीत फिल्म की प्रासंगिकता को बरकरार रखे हुए हैं। कल्पना लाजमी की फिल्म 'रूदाली' का यदि हम गहराई से विश्लेषण करें तो पता चलता है कि यह फिल्म राजस्थान के ग्रामीण अंचल की लोक संस्कृति से हमें अवगत कराती है। इसमें दिखाया गया है कि उक्त ग्रामीण समाज में किसी के मरने पर उसके घर वाले स्वयं नहीं रोते बल्कि इसके लिए बाकायदा रूदालियाँ बुलाई जाती हैं, जो आकर मरने वाले व्यक्ति के लिए छाती पीट-पीट कर रोते हुए मातम मनाती हैं। वहाँ ऐसी मान्यता है कि यदि घर वाले रोयें तो मरने वाले की आत्मा को शांति नहीं मिलेगी। परिवार वाले इसके लिए रूदालियों को बुलाते हैं और उन्हें पैसे-रुपये देते हैं। ये रूदालियाँ अपने इस व्यवसाय

के कारण लगभग समाज से बहिष्कृत जीवन बिताती हैं। इस अतिसंवेदनशील चरित्र को निभाने के लिए सबसे पहले फिल्मकार को पात्र के मनोविज्ञान और लोकसंस्कृति के इस जड़ीभूत रिवाज को गहराई से समझना होगा, तभी वह इसका फिल्मांकन कर पायेगा। बहरहाल कल्पना लाजमी की यह फिल्म अपने कथ्य ही संवेदनशीलता के कारण अनूठी बन पड़ी है जबकि इसकी रचनाकार महाश्वेता देवी को यह फिल्म अपने कहानी के कथ्य को नहीं पकड़ पाने की वजह से रास नहीं आयी।

हिन्दी सिनेमा और साहित्य के बीच बढ़ती दूरियाँ हमें सोचने के लिए मजबूर कर देती हैं कि आखिर ऐसा क्यों? तो सबसे पहले हमारा ध्यान रचनाकारों और पाठकों की ओर जाता है। हिन्दी साहित्य में पाठकों का लगभग अभाव है। साहित्य पढ़ने वाले विश्वविद्यालयों के कुछ छात्रों-अध्यापकों को यदि निकाल दिया जाए तो पाठक दीर्घा लगभग शून्य हो जाएगी। बहरहाल यह बहस का मुद्दा नहीं है। मुद्दा है, हिन्दी भाषी समाज के लोगों के अपनी भाषा से लगाव और जुड़ाव का। इस संदर्भ में मुक्ता महत्त्वपूर्ण सवाल उठाते हुए कहती हैं—''प्रश्न यह है कि आज हिन्दी भाषी ही अपने साहित्य से कितने परिचित हैं? जब तक वे खुद अपनी भाषा के साहित्य को गंभीरता से नहीं लेंगे, सिनेमा जगत भी साहित्यिक कृतियों को गम्भीरता से नहीं लेगा और न ही साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्मों के प्रति स्वीकार का भाव आएगा। बंगला सिनेमा का बंगला साहित्य से गहरा रिश्ता इसलिए है, क्योंकि बंगला भाषी बंगला साहित्य से व्यापक स्तर पर जुड़ा है।''[18]

कोई भी फिल्मकार उपन्यास या नाटक का चुनाव महज इसलिए करता है कि उसमें नाटकीय तत्वों की प्रधानता होने पर फिल्मीकरण की संभावनाओं और दिशाओं को ज्यादा स्पेस मिलता है। कुछ रचनाएँ ऐसी होती हैं, जिसमें दृश्यात्मक बिम्ब ज्यादा होते हैं। उनको पढ़ते समय पाठक को लगता है कि वह उपन्यास/कहानी नहीं पढ़ रहा बल्कि कोई फिल्म देख रहा है। ऐसे रचनाकारों में रविन्द्रनाथ टैगोर, शरत्चन्द्र, प्रेमचन्द, मिर्जा हादी रूस्वा, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, रेणु, मनोहर श्याम जोशी, उदय प्रकाश आदि का नाम लिया जा सकता है। इनकी रचनाओं में छोटी-छोटी जानकारियाँ दी हुई होती हैं, जो कि फिल्मांकन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण साबित होती हैं। मसलन मिर्जा रूस्वा के उपन्यास 'उमराव जान' में -''दूसरे दिन राजा साहब ने विदा किया। दस अशरफियाँ इनाम दीं, एक दोशाला, एक रूमाल, तीन बैलों के साथ एक रथ दिया। गर्ज कि डेरेदार पतुरिया बना दिया। एक गाड़ीवान और दो आदमी साथ लिये और उन्नाव को रवाना किया। वहाँ पहुँचकर मैं सलारू भटियारे के मकान में ठहरी, राजा साहब के आदमियों को लौटा दिया, सिर्फ गाड़ीवान को रख लिया। शाम को मैं अपनी कोठरी के सामने बैठी थी, मुसाफिर आ जा रहे थे और भटियारिनें चिल्ला रहीं थीं।''[19] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि फिल्मकार ऐसी सूचनाओं को ही कृतियों में ढूंढ़ता है और जिन कृतियों में ऐसी गुणात्मक खूबियाँ होती हैं, उन्हें ही वह अपने फिल्मांतरण का विषय बनाता है।

बाजार ने जहाँ साहित्य, सिनेमा और समाज की नब्ज को पकड़ने की कोशिश की है, वहीं इसने मानव जीवन के मूल्यों और संस्कारों को विकृत करने का काम भी बखूबी निभाया है। पहले जहाँ मसाला फिल्में ही इसकी गिरफ्त में थीं, वहीं अब गंभीर सिनेमा भी इससे अछूता नहीं रहा। अनुराग कश्यप हिन्दी सिनेमा में जहाँ गम्भीर कथ्य वाली फिल्मों के लिए जाने जाते रहे हैं, वहीं अब 'देव डी', 'जय

हनुमान', सरीखी कम बजट और सस्ते मनोरंजन वाली फिल्में बनाने के लिए जाने जा रहे हैं। श्याम बेनेगल के फिल्मों की फेहरिश्त पर यदि हम गौर करें तो, उन्होंने 'अंकुर' (सर्वश्रेष्ठ हिन्दी फिल्म, अन्य दो राष्ट्रीय पुरस्कार 1974 आस्कर के विदेशी फिल्म विभाग द्वारा चयनित, 43 अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कार, बर्लिन फिल्म महोत्सव में प्रदर्शित), 'निशांत' World Magazine's द्वारा सर्वश्रेष्ठ हिन्दी फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार 1976, कांस, लंदन और मेलबर्न फिल्म महोत्सव में प्रदर्शित, शिकागो फिल्म महोत्सव में Golden Plaque का पुरस्कार (1977), 'मंथन' (सर्वश्रेष्ठ हिन्दी फिल्म और सर्वश्रेष्ठ पटकथा के लिए राष्ट्रीय अभिनेत्री का पुरस्कार 1977, कर्टिग, शिकागो और अल्जीरियन फिल्म महोत्सव में प्रदर्शित), 'आरोहण' (सर्वश्रेष्ठ हिन्दी फिल्म, सर्वश्रेष्ठ अभिनेता, सर्वश्रेष्ठ संपादन का राष्ट्रीय पुरस्कार, 1982), 'मंडी' (राष्ट्रीय पुरस्कार कला निर्देशन हेतु 1983), 'त्रिकाल' (सर्वश्रेष्ठ निर्देशन और सर्वश्रेष्ठ वेश सज्जा के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार , 1985), 'सूरज का सातवां घोड़ा' (सर्वश्रेष्ठ फिल्म के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार 1993, सर्वश्रेष्ठ फिल्म सिंगापुर फिल्म महोत्सव), 'मम्मो' (सर्वश्रेष्ठ हिन्दी फिल्म और सर्वश्रेष्ठ सहअभिनेत्री का राष्ट्रीय पुरस्कार 1994), 'सरदारी बेगम' (सर्वश्रेष्ठ उर्दू फिल्म, सर्वश्रेष्ठ सह अभिनेत्री का राष्ट्रीय पुरस्कार 1994), 'समर' (सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार) जैसी गंभीर फिल्मों का इतिहास रचा है। सन् 74 में 'अंकुर' से इसकी शुरुआत करने के बाद, वे गंभीर और अर्थ-पूर्ण हिन्दी सिनेमा के पर्याय माने जाने लगे। इसके बाद उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। यहाँ यह भी ध्यान रहे कि वे हिन्दी भाषी नहीं हैं। श्याम बेनेगल की फिल्मों की यह छोटी सी बानगी प्रस्तुत करने का मंतव्य सिर्फ इतना है कि हम उनके कद को पहचानें और समानान्तर सिनेमा आंदोलन की शुरुआत करने वाले इस महान कलाकार की गंभीरता को परखें। यही श्याम बेनेगल हैं, जिन्होंने इतनी गंभीर और यथार्थ परक फिल्मों की रचावट-बुनावट के बाद सन् 2008 में 'वेलकम टू सज्जनपुर' जैसी हास्यप्रद फिल्में बनाईं जबकि इसके पहले कमोबेश उनकी सारी फिल्मों में हास्य और कॉमेडी का टोटा पड़ा रहता था। यदि हम इस बात की गहराई में जाएँ कि आखिर ऐसा क्यों? तो इससे एक ही बात उभरकर सामने आती है वह यह है कि बाजार और व्यवसाय की अंधी दौड़ में अपना स्थान सुनिश्चित करने के लिए हमें 'वेलकम टू सज्जनपुर' जैसी अगंभीर, हल्के-फुल्के हास्य वाली अति नाटकीय फिल्में भी बनानी पड़ेंगी। यह अलग बात है कि इस छोटे बजट वाली फिल्म ने भी सफलतापूर्वक अपना व्यवसाय किया और बेनेगल साहब के बड़े दर्शक वर्ग ने उनको निराश नहीं किया।

संदर्भ

(1). के. बासवानी, सिनेमाई भाषा और हिन्दी संवादों का विश्लेषण, पृष्ठ-91 (2). प्रेमचन्द सिनेमा और जीवन, समकालीन सृजन, अंक-17, 1997, पृष्ठ-12 (3). वही, (4). पारख, जबरीमल्ल, लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ, पृष्ठ-206 (5). कानूनगो, इंदुप्रकाश, (अनुवादक) अनंत में फैलते

बिम्ब : तारकोस्वकी का सिनेमा, पृष्ठ 56 (6). देवदास (उपन्यास), पृष्ठ-43) (7). कानूनगो, इंदुप्रकाश (अनुवादक), तारकोस्वकी का सिनेमा, पृष्ठ-57 (8). James, Monaco, How to Read A Film, Page-46 (9). विनोददास, भारतीय सिनेमा का अंतःकरण, पृष्ठ-161 (10). पारख, जबरीमल्ल, जनसंचार माध्यम और सांस्कृतिक विमर्श, पृष्ठ 141 (11). वही, पृष्ठ-149 (12). Sharma K.K. (Edited), Film And Literature, Page-13 (13). विनोददास, भारतीय सिनेमा का अंतःकरण, पृष्ठ-162 (14). Sharma K.K. (Edited), Film And Literature, Page-10 (15). Stam, Robert. (Edited), A companion to Literature and Film, Page-192 (16). सिंह, मानवेन्द्र प्रताप, काश हमारे जमाने में भी.... (रिपोर्ट), सामयिक मीमांसा, अप्रैल-जून 2009, पृष्ठ-99 (17). यादव, राजेन्द्र, एक दुनिया समानान्तर, पृष्ठ-198 (18). मुक्ता, सिनेमा में साहित्य का उपयोग (लेख) समकालीन सृजन, अंक-17, 1997 पृष्ठ-99 (19). उमराव जान अदा, पृष्ठ-63

लेखकों के पते

विद्यावती सिंह, टैमरिंड ट्री, ६०-सी शक्तिविहार कॉलोनी, थॉर्नहिल रोड, इलाहाबाद
सूरज पालीवाल, अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ,महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-४४२००१
गोपाल प्रधान, हिंदी विभाग, असम विश्वविद्यालय, सिलचर-७८८०११
विनोद शाही, ९ चीमानगर एक्सटेंशन, मिठ्ठापुर रोड, पो. आ. टावर टाउन कॉलोनी, जालंधर-१४४०१४
मैनेजर पांडेय, बी.डी./८ए , डी.डी.ए. फ्लैट्स, मुनरिका,नई दिल्ली-११००६७
टाइलर वाकर विलियम्स, 401, Knox Hall, CH-606, West 122 Street, NewYork, NY-10027
अनामिका, डी-२/८३, वैस्ट किदवई नगर, नई दिल्ली
हरिओम, २१ गुलिस्तां कॉलोनी, लखनऊ
कैलाश बनवासी, ४१ मुखर्जी नगर, सिकोला भाठा, दुर्ग-४९१००१
मिहिर पांड्या, जी-२५ए, विद्यानगर, किंग्सवे कैम्प के पास, दिल्ली-११०००९
अवधेश, ३२४ सतलज छात्रावास, जे.एन.यू.,दिल्ली
गरिमा श्रीवास्तव, विज़िटिंग प्रोफेसर, हिंदी चेअर, यूनिवर्सिटी ऑफ़ ज़ाग्रेब, क्रोएशिया (द.पू. यूरोप)
मानवेंद्र प्रताप सिंह, साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-४४२००१